ज्ञान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प-१२२

श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय

मूल श्लोक, हिंदी अन्वयार्थ और पंडित प्रवर
टोडरमलजी कृत भाषा टीका पर से
हिन्दी अनुवाद

अनुवादक :
वैद्य श्री गंभीरचंद जैन,
अलीगंज, एटा

卐

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

❀ ॐ ❀

श्री पुरुषार्थसिद्धि-उपाय दर्शक संतों को नमस्कार

प्रकाशकीय निवेदन

अति प्रशस्त अध्यात्म विद्याकुशल तथा जिनागम-मर्मज्ञ श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' अपर नाम 'जिन प्रवचन रहस्य कोष' की रचना की है। उस पर आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमलजी कृत भाषा-टीका मूल ढूंढारी मे है। उसका गुजराती अनुवाद ब्र. भाई श्री व्रजलाल गिरधरलाल शाह ने किया था जो इस संस्था की ओर से प्रकाशित हो चुका है। उसी पर से यह हिन्दी अनुवाद किया गया है। इसे प्रकाशित करके जिज्ञासुओं को देते हुए आनन्द होता है।

पण्डित प्रवर श्री टोडरमलजी द्वारा रची गई देशभाषामय टीका अधूरी रह गई है। तत्पश्चात् श्री पंडित दौलतरामजी ने वि० सं० १८२७ में उसे पूर्ण किया है।

वीतराग सर्वज्ञकथित वस्तुस्वभाव दर्शक जैनधर्म का माहात्म्य, अहिंसादि व्रतोंका स्वरूप, गृहस्थोचित नीतिमय व्यवहार धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक यथापदवी चारित्रमय जैनत्व क्या है, उसका वर्णन इस ग्रंथ में अत्यन्त सुगमशैली से किया गया है। आत्महित के लिये जो निरन्तर पुरुषार्थ का धारावाही स्रोत प्रवाहित कर रहे हैं—ऐसे आत्मज्ञ संत पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा प्रेरणा प्राप्त करके यह ग्रंथ तैयार किया गया है जिसके लिये हम उनका अत्यंतात्यंत उपकार मानते हैं।

गुजराती का हिन्दी अनुवाद अलीगंज निवासी सद्धर्म प्रेमी वैद्यराज श्री गम्भीरचन्दजी जैन ने शारीरिक अस्वस्थता के बावजूद बिलकुल निःस्पृहभाव से कर दिया है। वे शास्त्रों के अभ्यासी हैं और पूज्य स्वामीजीके सत्समागमार्थ एवं उनके भवताप शामक प्रवचनोंका लाभ लेने के लिये कई बार सोनगढ़ आते है। सोनगढ़मे होनेवाले धार्मिक शिक्षण शिविरों का भी वे लाभ लेते हैं। उन्हे पुरुषार्थ सिद्धयुपाय की एक हस्तलिखित प्रति जो कि सं० १९५९ में लिखी गई है, श्री शांतिनाथ दि० जिन-मंदिर अलीगंज के ग्रन्थ भण्डार से प्राप्त हुई; उसमेंसे उन्होंने कुछ उपयोगी भाग लिया है जो इस अनुवाद में योग्य स्थानों पर बढ़ा दिया गया है। यह अनुवाद कर देनेके लिये यह संस्था उनकी अत्यंत ऋणी है और धन्यवाद देनेके साथ उनका आभार मानती है।

भोपाल मुमुक्षु मण्डल के सदस्य श्री राजमलजी, श्री ब्र. हेमचन्दजी, श्री डॉ० कौशलजी आदि ने सारा अनुवाद बड़ी सूक्ष्मता एवं तत्परतासे जाँच दिया है, जिसके लिये हम उनका आभार मानते हैं।

श्री ब्र० गुलाबचन्दजीने इस कार्यमें परिश्रमपूर्वक अमूल्य सहयोग दिया है, जिसके लिये हम उनके भी आभारी हैं।

लोहारदा निवासी धर्मप्रेमी सेठ श्री हीरालालजी पाटोदी ने इस ग्रन्थकी १००० प्रतियाँ लागत मूल्य में खरीद ली हैं जिसके लिये वे तथा उनके कुटुम्बीजन धन्यवाद के पात्र हैं।

कमल प्रिन्टर्स के संचालक श्री नेमीचन्दजी बाकलीवाल ने पूरी सावधानी के साथ सुन्दर ढंग से इस ग्रंथ का मुद्रण कार्य किया है, जिसके लिये हम उनका आभार मानते हैं।

इस ग्रन्थ का मूल्य कम करने हेतु बम्बई के एक मुमुक्षु भाई द्वारा ह० सेठ श्री जुगराजजी १०००) रु० तथा इटावा मुमुक्षु मण्डलकी ओरसे १०१) सहायतार्थ प्राप्त हुए हैं, अतः उन्हें अनेकानेक धन्यवाद।

श्री जिनेन्द्रकथित निश्चय व्यवहारका संधियुक्त सुलभ वर्णन इस ग्रंथ में से पढ़ कर विचार कर, नयपक्षके रागसे मध्यस्थ होकर जिज्ञासुजन स्वसन्मुखतारूप अपूर्व सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्राप्ति हेतु निरन्तर पुरुषार्थवान बनें—ऐसी भावना है।

सोनगढ़
कार्तिकी पूर्णिमा
सं० २०२९

निवेदक :
साहित्य प्रकाशन समिति
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़

प्रस्तावना

इस ग्रन्थ का नाम 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' अथवा 'जिनप्रवचनरहस्यकोष है' पुरुष अर्थात् आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि का उपाय अथवा जैन सिद्धान्त के रहस्यों का भंडार ऐसा उसका अर्थ होता है। समस्त दुःखरूपी संसार का मूल मिथ्या श्रद्धा है और सत्यसुखरूपी धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। उस सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक निजात्म स्वरूप में लीन होना वह पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग ही पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है।

इस ग्रन्थ के रचयिता श्री अमृतचन्द्राचार्य देव हैं। आध्यात्मिक विद्वानों में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् यदि किसी का नाम लिया जाये तो वे श्री अमृतचन्द्राचार्य हैं। ऐसे महान एवं उत्तम प्रज्ञावंत आचार्यदेव के विषय में उनकी साहित्य रचना के अतिरिक्त अन्य कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। वे स्वरूपानन्द की मस्ती में झूलते हुए, प्रचुर संवेदन स्वरूप स्वसंवेदनसे अपनेमें आत्मवैभव प्रगट करने वाले, अनेक उत्तम गुणोंके धारक भरत क्षेत्रके महान संत थे। तथा वे भगवान श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित परमागम श्री समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकायसंग्रह शास्त्र के अद्वितीय टीकाकार तथा 'कलिकाल गणधर' की उपमा को प्राप्त थे।

उपरोक्त शास्त्रों की संस्कृत टीका के उपरांत 'तत्त्वार्थसार' और 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' उनकी मौलिक रचनाएं हैं। उनके अभ्यासी उनकी सर्वोत्तम प्रज्ञा की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं। आत्मज्ञसंत पूज्य श्री कानजी स्वामी तो अनेकों बार कहते हैं कि 'गणधर देव तुल्य उनकी संस्कृत टीका नहीं होती तो भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य का हार्द नहीं समझा जा सकता था। उन्होने सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी के अपूर्व, अचिन्त्य रहस्य खोले हैं।'—ऐसे महान योगीश्वरको अत्यन्त भक्तिभावसे नमस्कार हो।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय पर तीन टीकाएँ उपलब्ध हैं। प्रथम संस्कृत टीका है जिसके कर्ता अज्ञात हैं; दूसरी टीका पण्डित प्रवर श्री टोडरमलजी तथा श्री पंडित दौलतरामजी कृत ढूंढारी भाषा मे है और तीसरी टीका श्री पं० भूधर मिश्र रचित ब्रज भाषा में है।

दूसरी टीका प्रसिद्ध भाषा टीकाकार पं० प्रवर श्री टोडरमलजी की अंतिम कृति हो ऐसा लगता है, क्योंकि वह अपूर्ण रह गई है। यदि वे जीवित रहते तो अवश्य उसे पूर्ण करते। तत्पश्चात् यह टीका जयपुर के महाराजा पृथ्वीसिंहजी के मुख्य दीवान श्री रतनचन्द्रजी की प्रेरणा से पं० श्री दौलतरामजी ने सं० १८२७ मे पूर्ण की है। उस टीका के गुजराती अनुवाद का हिन्दी अनुवाद इस ग्रंथ मे प्रकाशित किया गया है; इसप्रकार दोनों पण्डितो का उपकार है।

जैनधर्म ही अहिंसा प्रधान है। निश्चय अहिंसा तो वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र है उसका, तथा व्यवहार-अहिंसा का यथार्थ स्वरूप श्री जिनेन्द्र कथित शास्त्रों में प्ररूपित किया गया है।

हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल इन चार विषयों के ज्ञान बिना तथा भूतार्थ निज ज्ञायक स्वभाव का आश्रय लिये बिना हिंसा का यथार्थ त्याग नहीं हो सकता। श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने इस ग्रंथ में जिस अपूर्व शैली से अहिंसा का वर्णन किया है वैसा अन्य मत के किसी ग्रंथ में है ही नहीं। उन्होंने मिथ्या श्रद्धा के उपरांत हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रहादि पापों को खूबी के साथ मात्र हिंसारूप ही सिद्ध किया है। वर्तमान में तो पशुवध, मांस भक्षण और अभक्ष्यादि के प्रचार द्वारा हिंसा की ही पुष्टि हो रही है; उसके त्याग बिना विश्व में शांति होना असंभव है। इसलिये सर्वज्ञ वीतराग कथित अहिंसा के रहस्य को समझकर जगत् के सर्व जीव शांति का अनुभव करें ऐसी भावना है।

सोनगढ़
(सौराष्ट्र)

—ब्र० गुलाबचन्द जैन

पुरुषार्थसिद्धिउपाय शुद्धि-पत्र

पृष्ठ नं०	ला० नं०	अशुद्धि	शुद्धि
१३९	अंतिम	अपघात	आपघात
१६२	११	मोक्षमार्ग को····प्राप्त	मोक्षमार्ग को सर्व देश प्राप्त
१६६	१८	लोक में	८-लोक में
१६६	२८	ममत्व बुद्धि का	९-ममत्व बुद्धिका

अनुक्रमणिका

* श्री जिनाय नमः *

श्रीमद्-अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

आचार्यकल्प श्री पं० टोडरमलजी कृत भाषा-वचनिका का

हिन्दी रूपान्तर

मङ्गलाचरण (दोहा)

परम पुरुष निज अर्थको, साधि हुए गुणवृन्द ।
आनन्दामृत-चन्द्रको, वन्दत हूँ सुखकन्द ॥१॥
वानी बिन वैन न बने, वैन बिना बिन नैन ।
नैन बिना ना वान बन, नमों वानि बिन वैन ॥२॥
गुरु उर भावैं आप-पर तारक, वारक पाप ।
सुरगुरु गावैं आप-पर हारक वाच कलाप ॥३॥
मैं नमों नगन जैन जिन, ज्ञान ध्यान धन लीन ।
मैन मान बिन दानघन, ऐन हीन तन छीन ॥४॥

भावार्थः—जो परमपुरुष निजसुखस्वरूप प्रयोजनको साधकर शुद्धगुण समूहरूप हुए, उन आनन्दामृतचन्द्रको (—जिनेन्द्रदेवको) मैं—जो (द्रव्यदृष्टिसे) सुखकन्द हूँ वह—वन्दना करता हूँ ॥१॥ वाणी बिना वचन नहीं हो सकते हैं और वचनों बिना नयोंका कथन संभव नहीं है, नयोंके कथन बिना (—वस्तुस्वरूपका वर्णन करनेवाली) स्याद्वादरूप वाणी नहीं बन सकती है किन्तु हे जिनेन्द्रदेव ! आपकी वाणी स्याद्वादरूप होती हुई भी निरक्षरी है, मैं उसे नमस्कार करता हूँ ॥२॥ सुरगुरु (बृहस्पति) अपने और दूसरोंके मनको हरनेवाले वचनों द्वारा अपना और परका कल्याण करनेवाले एवं

पापोंका नाश करनेवाले जिन गुरुओंकी स्तुति करते हैं, वे गुरु मेरे हृदयमें वास करें ॥३॥ मैं जिनमुद्रा धारक जैन नग्न दिगम्बर मुनिको नमस्कार करता हूँ कि जो ज्ञान–ध्यानरूपी धन–स्वरूपमें लीन है, काम, मान (घमण्ड, कर्तृत्व, ममत्व)से रहित, मेघ समान धर्मोपदेशकी वृष्टि करनेवाले, पाप रहित और क्षीणकाय हैं, अर्थात् कषाय और काया क्षीण है तथा ज्ञानस्वरूपमे अत्यन्त पुष्ट हैं ॥४॥

(कवित्त सवैया मनहरण ३१ वर्ण)

कोई नर निश्चयसे आत्माको शुद्ध मान,
हुआ है स्वच्छन्द न पिछाने निज शुद्धता ।
कोई व्यवहार दान तप शीलभावको ही,
आत्माका हित मान छोड़ै नहीं मूढता ।
कोई व्यवहारनय–निश्चयके मारगको,
भिन्न भिन्न जानकर करत-निज उद्धता ।
जाने जब निश्चयके भेद व्यवहार सब,
कारणको उपचार माने तब बुद्धता ॥५॥

(दोहा)

श्रीगुरु परम दयालु हो, दिया सत्य उपदेश ।
ज्ञानी माने जानकर, ठानत मूढ़ कलेश ॥६॥

अब ग्रन्थकर्त्ता श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव मङ्गलाचरणके निमित्त अपने इष्टदेवको स्मरण करके, इस जीवका प्रयोजन सिद्ध होनेमें कारणभूत, निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गकी एकतारूप उपदेश जिसमें है, ऐसे ग्रन्थका आरम्भ करते हैं ।

सूत्रावतार :—

(आर्या छन्द)

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥१॥

अन्वयार्थः—[यत्र] जिसमें [दर्पणतल इव] दर्पणके तलकी तरह [सकला] समस्त [पदार्थमालिका] पदार्थोंका समूह [समस्तैरनन्तपर्यायैः समं] अतीत, अनागत, और वर्तमान कालकी समस्त अनन्त पर्यायो सहित [प्रतिफलति] प्रतिविम्बित होता है, [तत्] वह [परं ज्योतिः] सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतनारूप प्रकाश [जयति] जयवन्त वर्तो ।

टीकाः—'तत् परंज्योतिः जयति'—वह परम ज्योति-सर्वोत्कृष्ट शुद्धचेतनाका प्रकाश जयवन्त वर्तता है। वह कैसा है? 'यत्र सकला पदार्थमालिका प्रतिफलति'—जिस शुद्धचेतना प्रकाशमें समस्त ही जीवादि पदार्थोंका समूह प्रतिबिम्बित होता है। किस प्रकार? 'समस्तैः अनन्तपर्यायैः समं'—अपने समस्त अनन्त पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होता है।

भावार्थः—शुद्धचेतनाप्रकाशकी कोई ऐसी ही महिमा है, कि उसमें, जितने भी पदार्थ है वह सभी अपने आकार सहित प्रतिभासमान होते है। किस प्रकार? "दर्पणतल इव"—जिस प्रकार दर्पणके ऊपरके भागमें घटपटादि प्रतिबिम्बित होते है। यहाँ दर्पणका दृष्टान्त दिया है उसका प्रयोजन यह जानना कि दर्पणको ऐसी इच्छा नही है कि मैं इन पदार्थोंको प्रतिबिम्बित करूं। जिस प्रकार लोहेकी सुई लोहचुम्बकके पास स्वयं ही जाती है, वैसे दर्पण अपना स्वरूप छोड़कर पदार्थोंको प्रतिबिम्बित करनेके लिए उनके पास नही जाता और वे पदार्थ भी अपना स्वरूप छोड़कर उस दर्पणमें प्रवेश नही कर जाते। जैसे कोई पुरुष किसो दूसरे पुरुषसे कहे कि हमारा यह काम करो ही करो, तैसे वे पदार्थ अपनेको प्रतिबिम्बित करवानेके लिए दर्पणसे प्रार्थना भी नहीं करते। सहज ही ऐसा सम्बन्ध है कि जैसा उन पदार्थोंका आकार होता है वैसा ही आकाररूप वे दर्पणमें प्रतिबिम्बित होते है। प्रतिबिम्बित होनेपर दर्पण ऐसा नहीं मानता कि यह पदार्थ मेरे लिये भले है, उपकारी है, राग करनेयोग्य है, अथवा बुरे है और द्वेष करने योग्य है वह तो सभी पदार्थोंके प्रति समानभावसे प्रवर्तन करता है। जिस प्रकार दर्पणमें कितने हो घटपटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते है उसी प्रकार ज्ञानरूपी दर्पणमें समस्त जीवादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते है। ऐसा कोई द्रव्य या पर्याय नही है जो ज्ञानमें न आया हो। ऐसी शुद्धचैतन्य परम ज्योतिकी सर्वोत्कृष्ट महिमा स्तुति करने योग्य है।

यहाँ कोई प्रश्न करे, कि यहाँ गुणका स्तवन तो किया किन्तु किसी पदार्थका नाम नही लिया—उसका कारण क्या? प्रथम पदार्थका नाम लेना चाहिए, पश्चात् गुणका वर्णन करना चाहिए। उसका उत्तरः—यहाँ आचार्यने अपनी परीक्षाप्रधानता प्रकट की है। भक्त दो प्रकारके होते है—एक आज्ञाप्रधानी और दूसरे परीक्षाप्रधानी। जो जीव परम्परा मार्गसे चले आएं, जैसे तैसे देव-गुरुका उपदेश प्रमाण करके विनयादि क्रियारूप प्रवर्तन करते हैं उन्हें आज्ञाप्रधानी कहते है और जो अपने सम्यग्ज्ञान द्वारा प्रथम स्तुति करनेयोग्य गुणका निश्चय करते है, पश्चात् जिनमे वह गुण होता है उनके

प्रति विनयादि क्रियारूप प्रवर्तन करते हैं, उन्हें परीक्षाप्रधानी कहते हैं। क्योंकि कोई पद, वेश अथवा स्थान पूज्य नहीं है, गुण पूज्य है इसलिए यहाँ शुद्धचेतना प्रकाशरूप गुण स्तुति करने योग्य है, ऐसा आचार्यने निश्चय किया। जिसमें ऐसा गुण हो वह सहज ही स्तुति करने योग्य हुआ। कारण कि गुण द्रव्याश्रित है, द्रव्यसे भिन्न नहीं, ऐसे विचार पूर्वक निश्चय करें तो ऐसा गुण प्रकट रूपसे अरिहन्त और सिद्धमें होता है। इस प्रकार अपने इष्टदेवका स्तवन किया ।।१।।

अब इष्ट आगमका स्तवन करते है—

परमागमस्य *जीवं निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम् ।
सकलनय विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।२।।

अन्वयार्थः—[निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम्] जन्मान्ध पुरुषोंके हस्ति-विधानका निषेध करनेवाला, [सकलनय विलसितानाम्] समस्त नयोंसे प्रकाशित वस्तु स्वभावका [विरोधमथनं] विरोध दूर करनेवाला [परमागमस्य] उत्कृष्ट जैन सिद्धान्तका [जीवं] जीवभूत [अनेकान्तम्] अनेकान्तको—एक पक्ष रहित स्याद्वादको मैं अमृतचन्द्रसूरि नमस्कार करता हूँ।

टीकाः—'अहं अनेकान्तं नमामि'—मैं ग्रन्थकर्ता, अनेकान्त—एक पक्ष रहित स्याद्वादको नमस्कार करता हूँ। यहाँ कोई प्रश्न करे कि जिनागमको नमस्कार करना चाहिये था, उसके बदले स्याद्वादको नमस्कार किया, उसका कारण क्या ? उसका उत्तरः—जिस स्याद्वादको हमने नमस्कार किया, वह कैसा है ? 'परमागमस्य जीवं' उत्कृष्ट जैन सिद्धान्तका जीवभूत है।

भावार्थः—जैसे शरीर जीव सहित कार्यकारी है, जीव रहित मृतक शरीर किसी कामका नहीं। वैसे ही जैन सिद्धान्त भी वचनात्मक है, वचन क्रमवर्ती है। वह जो कथन करता है वह एक नयकी प्रधानतासे करता है परन्तु जैन सिद्धान्त सर्वत्र स्याद्वादसे व्याप्त है। जहाँ एक नयकी प्रधानता है वहाँ दूसरा नय सापेक्ष है, इसलिये जैन सिद्धान्त इस जीवको कार्यकारी है। अन्यमतका सिद्धान्त एक पक्षसे दूषित है, स्याद्वाद रहित है, अतः कार्यकारी नहीं है। जो जैन शास्त्रोंके उपदेशको भी अपने अज्ञानसे स्याद्वाद रहित श्रद्धान करते हैं उन्हें विपरीत फल मिलता है। इसलिए स्याद्वाद परमागमका जीवभूत है। उसे नमस्कार करता हूँ।

---

* पाठान्तर बीजं।

कैसा है स्याद्वाद ? 'निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम्' जन्मान्ध पुरुषोंका हस्ति-विधान जिसने दूर कर दिया है, ऐसा है। जिस प्रकार अनेक जन्मान्ध पुरुष मिले, उन्होंने एक हाथीके अनेक अंग अपनी स्पर्शनेन्द्रियसे अलग अलग जाने। आँखोंके बिना, पूर्ण सर्वांग हाथीको न जाननेसे, हाथीका स्वरूप अनेक प्रकार कहकर (एक अंगको ही सर्वांग मानकर) परस्पर वाद करने लगे। तब आँखवाले पुरुषने हाथीका यथार्थ निर्णय करके उनकी भिन्न भिन्न कल्पनाको दूर कर दिया। उसी प्रकार अज्ञानी एक वस्तुके अनेक अंगोंको अपनी बुद्धिसे जुदे जुदे अन्य अन्य रीतिसे निश्चय करता है। सम्यग्ज्ञान बिना सर्वांग (सम्पूर्ण) वस्तुको न जाननेसे एकान्तरूप वस्तु मानकर परस्पर वाद करता है। वहाँ स्याद्वाद विद्याके बलसे सम्यग्ज्ञानी यथार्थरूपेण वस्तुका निर्णय करके उसकी भिन्न भिन्न कल्पना दूर कर देता है। उसका उदाहरण—

सांख्यमती वस्तुको नित्य ही मानता है, बौद्धमती क्षणिक ही मानता है। स्याद्वादी कहता है कि जो वस्तु सर्वथा नित्य ही हो तो अनेक अवस्थाओंका पलटना किस प्रकार बन सकता है ? जो वस्तुको सर्वथा क्षणिक मानलें तो "जो वस्तु पहले देखी थी वह यही है" ऐसा प्रत्यभिज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? अतः कथचित् द्रव्यकी अपेक्षासे वस्तु नित्य है और पर्यायकी अपेक्षासे क्षणिक है। इस भाँति जब स्याद्वादसे सर्वांग वस्तुका निर्णय करनेमें आता है तब एकान्त श्रद्धाका निषेध हो जाता है। पुनः कैसा है स्याद्वाद ? 'सकल नय विलसितानां विरोधमथनं' समस्त नयोसे प्रकाशित जो वस्तु-स्वभाव, उसके विरोधको दूर करता है।

भावार्थः—नय विवक्षासे वस्तुमे अनेक स्वभाव है और उनमें परस्पर विरोध है। जैसे कि अस्ति और नास्तिका प्रतिपक्षीपना है परन्तु जब स्याद्वादसे स्थापन करें तो सर्व विरोध दूर हो जाता है। किस प्रकार ? एक ही पदार्थ कथचित् स्वचतुष्टयकी अपेक्षासे अस्तिरूप है, कथंचित् परचतुष्टयकी अपेक्षासे नास्तिरूप है। कथंचित् समुदायकी अपेक्षासे एकरूप है, कथचित् गुण पर्यायकी अपेक्षासे अनेकरूप है। कथंचित् सज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजनकी अपेक्षासे गुण पर्यायादि अनेक—भेदरूप है। कथचित् सत्की अपेक्षासे अभेदरूप है। कथचित् द्रव्य अपेक्षासे नित्य है, कथंचित् पर्याय अपेक्षासे अनित्य है। इस प्रकार स्याद्वाद सर्व विरोधको दूर करता है। स्यात् अर्थात् कथंचित् नय अपेक्षासे वाद अर्थात् वस्तु स्वभावका कथन, इसे स्याद्वाद कहते हैं, इसीको नमस्कार किया है ॥२॥

आगे आचार्य ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ।।३।।

अन्वयार्थः—[लोकत्रयैकनेत्रं] तीन लोक सम्बन्धी पदार्थोंको प्रकाशित करनेमें अद्वितीय नेत्र [परमागमं] उत्कृष्ट जैनागमको [प्रयत्नेन] अनेक प्रकारके उपायोसे [निरूप्य] जानकर अर्थात् परम्परा जैन सिद्धान्तोंके निरूपण पूर्वक [अस्माभिः] हमारे द्वारा [विदुषां] विद्वानोंके लिए [अयं] यह [पुरुषार्थसिद्ध्युपायः] पुरुषार्थ सिद्धि उपाय नामक ग्रन्थ [उपोद्ध्रियते] उद्धार करनेमें आता है।

टीकाः—'अस्माभिः विदुषां अयं पुरुषार्थसिद्ध्युपायः उपोद्ध्रियते'—मैं ग्रन्थकर्त्ता ज्ञानी जीवोके लिए यह पुरुषार्थ सिद्धि उपाय नामक ग्रन्थ अथवा चैतन्य पुरुषका प्रयोजन सिद्ध करनेका उपाय प्रकट करता हूँ। 'किं कृत्वा'—क्या करके? 'प्रयत्नेन'—अनेक प्रकारसे उद्यम करके सावधानी पूर्वक—'परमागमं निरूप्य'—परम्परासे जैन सिद्धान्तका विचार करके।

भावार्थः—जिस प्रकार केवली, श्रुतकेवली और आचार्योंके उपदेशकी परम्परा है उसका विचार करके मैं उपदेश देता हूँ। स्वमतिसे कल्पित रचना नहीं करता हूँ। कैसा है परमागम? 'लोकत्रयैकनेत्रं'—तीन लोकमें त्रिलोक सम्बन्धी पदार्थोंको बतानेके लिये अद्वितीय नेत्र है।।३।।

इस ग्रन्थके प्रारम्भमें वक्ता, श्रोता और ग्रन्थका वर्णन करना चाहिए ऐसी परम्परा है।

इसलिए प्रथम ही वक्ताका लक्षण कहते हैं—

मुख्योपचार विवरण निरस्तदुस्तरविनेय दुर्बोधाः।
व्यवहार निश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ।।४।।

अन्वयार्थः—[मुख्योपचार विवरण निरस्त दुस्तर विनेय दुर्बोधाः] मुख्य और उपचार कथनके विवेचनसे प्रकटरूपेण शिष्योंका दुर्निवार अज्ञानभाव जिन्होने नष्ट कर दिया है तथा [व्यवहारनिश्चयज्ञाः] जो व्यवहारनय और निश्चयनयके ज्ञाता हैं, ऐसे आचार्य [जगति] जगतमें [तीर्थं] धर्मतीर्थका [प्रवर्तयन्ते] प्रवर्तन कराते हैं।

टीकाः—'व्यवहार निश्चयज्ञाः जगति तीर्थं प्रवर्तयन्ते'—व्यवहार और निश्चयके जाननेवाले आचार्य इस लोकमें धर्मतीर्थका प्रवर्तन कराते हैं। कैसे हैं आचार्य? 'मुख्योपचार विवरण निरस्त दुस्तर विनेय दुर्बोधाः'—मुख्य और उपचार कथनसे शिष्यके अपार अज्ञानभावको जिन्होंने नाश किया है, ऐसे है।

भावार्थः—उपदेशदाता आचार्यमें अनेक गुण चाहिए। परन्तु व्यवहार और निश्चयका ज्ञान मुख्यरूपसे चाहिए। किसलिए? जीवोंको अनादिसे अज्ञानभाव है, वह मुख्य (निश्चय) कथन और उपचार (व्यवहार) कथनके जाननेसे दूर होता है। वहाँ मुख्य कथन तो निश्चयनयके आधीन है, वही बताते हैं। 'स्वाश्रितो निश्चयः', जो अपने ही आश्रयसे हो उसको निश्चय कहते हैं। जिस द्रव्यके अस्तित्वमें जो भाव पाये जावे, उस द्रव्यमें उनका ही स्थापन करना, तथा परमाणुमात्र भी अन्य कल्पना न करनेका नाम स्वाश्रित है। उसका जो कथन है उसीको मुख्य कथन कहते हैं। (मुख्य–निश्चय) इसको जाननेसे अनादि शरीरादि-परद्रव्यमें एकत्व-श्रद्धानरूप अज्ञान-भावका अभाव होता है, भेदविज्ञानकी प्राप्ति होती है, सर्व परद्रव्यसे भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपका अनुभव होता है। वहाँ परमानन्द दशामें मग्न होकर केवल दशाको प्राप्त होता है। जो अज्ञानी इसको जाने बिना धर्ममें प्रवृत्ति करते हैं, वे शरीराश्रित क्रियाकाण्डको उपादेय जानकर, संसारका कारण जो शुभोपयोग उसे ही मुक्तिका कारण मानकर, स्वरूपसे भ्रष्ट होते हुए संसारमें भ्रमण करते हैं। इसलिए मुख्य [निश्चय] कथनका ज्ञान अवश्य होना चाहिए। और वह निश्चयनयके आधीन है इसलिए उपदेशदाता निश्चयनयका ज्ञाता होना चाहिए। कारण कि स्वयं ही न जाने तो शिष्योंको कैसे समझा सकता है?

तथा 'पराश्रितो व्यवहारः' जो परद्रव्यके आश्रित हो उसे व्यवहार कहते हैं। किंचित् मात्र कारण पाकर अन्य द्रव्यका भाव अन्य द्रव्यमें स्थापन करे उसे पराश्रित कहते हैं। उसीके कथनको उपचार कथन कहते है। इसे जानकर शरीरादिके साथ सम्बन्धरूप संसार दशा है उसका ज्ञान करके, संसारके कारण जो आस्रव–बन्ध है उन्हें पहिचान कर, मुक्त होनेके उपाय जो संवर–निर्जरा है उनमें प्रवर्तन करे। अज्ञानी इन्हें जाने बिना शुद्धोपयोगी होनेकी इच्छा करता है, वह पहले ही व्यवहार साधनको छोड़कर पापाचरणमें लीन होकर, नरकादिकके दुःख–सकटोंमें जा गिरता है। इसलिए उपचार कथनका भी ज्ञान होना चाहिए। और वह व्यवहारनयके आधीन है अतः उपदेश दाताको व्यवहारका भी ज्ञान होना आवश्यक है। इस भांति दोनों नयोंके ज्ञाता आचार्य धर्मतीर्थके प्रवर्तक होते है, अन्य नही ।।४।।

आगे कहते हैं कि आचार्य दोनों नयोंका उपदेश किस प्रकार करते हैं—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥५॥

अन्वयार्थः—[इह] इस ग्रन्थमें [निश्चयं] निश्चयनयको [भूतार्थं] भूतार्थ और [व्यवहारं] व्यवहारनयको [अभूतार्थं] अभूतार्थ [वर्णयन्ति] वर्णन करते हैं। [प्रायः] प्रायः [भूतार्थबोध विमुखः] भूतार्थ अर्थात् निश्चयनयके ज्ञानसे विरुद्ध जो अभिप्राय है, वह [सर्वोऽपि] समस्त ही [संसारः] संसार स्वरूप है।

टीकाः—'इह निश्चयं भूतार्थं व्यवहारं अभूतार्थं वर्णयन्ति' आचार्य इन दोनों नयोंमें निश्चयनयको भूतार्थ कहते है और व्यवहारनयको अभूतार्थ कहते है।

भावार्थः—भूतार्थ नाम सत्यार्थका है। भूत अर्थात् जो पदार्थमें पाया जावे, और अर्थ अर्थात् "भाव"। उनको जो प्रकाशित करे तथा अन्य किसी प्रकारकी कल्पना न करे उसे भूतार्थ कहते है। जिस प्रकार कि सत्यवादी सत्य ही कहता है, कल्पना करके कुछ भी नही कहता। वही यहाँ बताया जाता है। यद्यपि जीव और पुद्गलका अनादि कालसे एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और दोनों मिले हुए जैसे दिखाई पड़ते हैं तो भी निश्चयनय आत्मद्रव्यको शरीरादि परद्रव्योसे भिन्न ही प्रकाशित करता है। यही भिन्नता मुक्त दशामें प्रकट होती है। इसलिए निश्चयनय सत्यार्थ है।

अभूतार्थ नाम असत्यार्थका है। अभूत् अर्थात् जो पदार्थमें न पाया जावे और, अर्थ अर्थात् भाव। उनको जो अनेक प्रकारकी कल्पना करके प्रकाशित करे उसे अभूतार्थ कहते हैं। जैसे कोई असत्यवादी पुरुष जरासे भी कारणका बहाना—छल पाकर अनेक कल्पना करके असदृशको भी सदृश कर दिखाता है। उसीको बताते हैं। जैसे यद्यपि जीव और पुद्गलकी सत्ता भिन्न है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न है, तथापि एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धका छल (बहाना) पाकर "आत्मद्रव्यको शरीरादिक परद्रव्यसे एकत्वरूप कहता है"। मुक्त दशामें प्रकट भिन्नता होती है। तब व्यवहारनय स्वयं ही भिन्न भिन्न प्रकाशित करनेको तैयार होता है। अतः व्यवहारनय असत्यार्थ है। 'प्रायः भूतार्थ बोध विमुखः सर्वोऽपि संसारः' अतिशयपने सत्यार्थ जो निश्चयनय है उसके परिज्ञानसे विपरीत जो परिणाम (अभिप्राय) है वह समस्त संसार स्वरूप ही है।

भावार्थः—इस आत्माका परिणाम निश्चयनयके श्रद्धानसे विमुख होकर, शरीरादिक परद्रव्योंके साथ एकत्व श्रद्धानरूप होकर प्रवर्तन करे उसीका नाम संसार है। इससे

जुदा संसार नामका कोई पदार्थ नहीं है। इसलिए जो जीव संसारसे मुक्त होनेके इच्छुक है उन्हें शुद्धनयके* सन्मुख रहना योग्य है। इसीको उदाहरण देकर समझाते हैं। जिस प्रकार बहुत पुरुष कीचड़के सयोगसे जिसकी निर्मलता आच्छादित हो गई है, ऐसे गँदले जलको ही पीते है। और कोई अपने हाथसे कतकफल (निर्मली) डालकर कीचड़ और जलको अलग-अलग करता है। वहाँ निर्मल जलका स्वभाव ऐसा प्रकट होता है जिसमें अपना पुरुषाकार प्रतिभासित होता है, उसी निर्मल जलका वह आस्वादन करता है। उसी प्रकार बहुतसे अज्ञानी जीव कर्मके संयोगसे जिसका ज्ञानस्वभाव ढँक गया है ऐसे अशुद्ध आत्माका अनुभव करते है। कुछ ज्ञानी जीव अपनी बुद्धिसे शुद्धनिश्चयनयके स्वरूपको जानकर कर्म और आत्माको भिन्न भिन्न करते है तब निर्मल आत्माका स्वभाव ऐसा प्रगट होता है जिसमें अपने चैतन्य पुरुषका आकार प्रतिभासित हो जाता है। इस प्रकार वह निर्मल आत्माका स्वानुभवरूप आस्वादन करते हैं। अतः शुद्धनय कतकफल समान है उसीके श्रद्धानसे सर्वसिद्धि होती है ॥५॥

आगे कहते है कि यदि एक निश्चयनयके श्रद्धानसे ही सर्व सिद्धि होती है तो फिर आचार्य व्यवहारनयका उपदेश क्यों करते है? उसका उत्तर—अर्थ इस गाथामें कहा है ॥५॥

अब जो श्रोता गाथामें कथित अर्थके उपदेशको अंगीकार करने योग्य नही है उनका कथन करते है—

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥६॥

अन्वयार्थः—[मुनीश्वराः] ग्रन्थकर्त्ता आचार्य [अबुधस्य] अज्ञानी जीवोंको [बोधनार्थं] ज्ञान उत्पन्न करनेके लिये [अभूतार्थं] व्यवहारनयका [देशयन्ति] उपदेश करते है और [यः] जो जीव [केवलं] केवल [व्यवहारम् एव] व्यवहारनयको ही [अवैति] जानता है [तस्य] उसको—उस मिथ्यादृष्टि जीवके लिये [देशना] उपदेश [नास्ति] नही है।

टीकाः—'मुनीश्वराः अबुधस्य बोधनार्थं अभूतार्थं देशयन्ति'—मुनीश्वर अर्थात् आचार्य अज्ञानी जीवोंको ज्ञान उत्पन्न करनेके लिये अभूतार्थ ऐसा जो व्यवहारनय उसका उपदेश करते हैं।

* शुद्धनयका विषय-त्रैकालिक पूर्णरूप अपना निश्चय परमात्मा।

भावार्थः—अनादिका अज्ञानी जीव व्यवहारनयके उपदेश बिना समझ नहीं सकता इसलिये आचार्य महाराज व्यवहारनयके द्वारा उसको समझाते हैं। वही यहाँ बता रहे हैं। जैसे किसी म्लेच्छको एक ब्राह्मणने 'स्वस्ति' शब्द कहकर आशीर्वाद दिया, तो उसे उसके अर्थका कुछ बोध नहीं हुआ और वह ब्राह्मणकी तरफ ताकता रहा। वहाँ एक दुभाषिया उससे म्लेच्छ भाषामें बोला कि यह ब्राह्मण कहता है कि 'तेरा कल्याण हो,' तब आनन्दित होकर उस म्लेच्छने आशीर्वाद अगीकार किया। ठीक इसी प्रकार आचार्यने अज्ञानी जीवको 'आत्मा' शब्द कहकर उपदेश दिया तब वह कुछ नही समझा और आचार्यकी तरफ देखता रह गया। तब निश्चय और व्यवहारनयके ज्ञाता आचार्यने व्यवहारनयके द्वारा भेद उत्पन्न करके (–गुण–गुणी आदि विवक्षा–भेद द्वारा) उसे बताया कि—जो यह देखनेंवाला, जाननेवाला और आचरण करनेवाला पदार्थ है वही आत्मा है, तब सहज परमानन्द दशाको प्राप्त होकर वह आत्माको निजस्वरूपसे अंगीकार करता है। इस प्रकार यह सद्भूतव्यवहारनयका उदाहरण दिया।

आगे असद्भूतव्यवहारनयका उदाहरण देते है। जैसे घृतसे संयुक्त मिट्टीकें घड़ेको व्यवहारसे घीका घड़ा कहते हैं। यहाँ कोई पुरुष जन्मसे ही उसको घीका घड़ा जानता है। जब कोई पुरुष घृतका घड़ा कहकर उसे समझाता है तभी वह समझता है और यदि उससे मिट्टीका घड़ा कहकर संबोधन किया जाय तो वह किसी दूसरे कोरे घड़ेको समझ बैठता है–घीके घड़ेको नही। निश्चयसे विचार किया जाय तो घड़ा मिट्टीका ही है परन्तु उसको समझानेके लिये 'घृतका घड़ा' कहकर ही सबोधन करना पड़ता है। उसी प्रकार यह चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मजनित पर्यायसे सयुक्त है। उसे व्यवहारसे देव, मनुष्य इत्यादि नामसे कहते है। अज्ञानी जीव अनादिसे उस आत्माको देव, मनुष्य इत्यादि स्वरूप ही जानता है। जब कोई उसे देव, मनुष्य वगैरह नामसे सबोधित करके समझावे तभी समझ पाता है और यदि आत्माका नाम चैतन्यस्वरूप कहे तो अन्य किसी परम ब्रह्म परमेश्वरको समझ बैठता है। निश्चयसे विचार करें तो आत्मा चैतन्यस्वरूप ही है परन्तु अज्ञानीको समझानेके लिये आचार्यदेव गति, जाति आदिके भेद द्वारा जीवका निरूपण करते हैं। इस तरह अज्ञानी जीवोंको ज्ञान उत्पन्न करानेके लिये आचार्य महाराज व्यवहारका उपदेश करते है। 'केवल व्यवहारं एव अवैति तस्य देशना नास्ति'—जो जोव केवल व्यवहार ही का श्रद्धान करता है उसके लिये उपदेश नहीं है।

भावार्थः—निश्चयनयके श्रद्धान बिना केवल व्यवहारमार्गमें ही प्रवर्त्तन करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके लिये उपदेश देना निष्फल है ॥६॥

आगे केवल व्यवहारनयके श्रद्धान होनेका कारण बताते हैं—

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

अन्वयार्थः—[यथा] जिस प्रकार [अनवगीत सिंहस्य] सिंहको सर्वथा न जाननेवाले पुरुषके लिये [माणवकः] बिलाव [एव] ही [सिंहः] सिंहरूप [भवति] होता है, [हि] निश्चयसे [तथा] उसी प्रकार [अनिश्चयज्ञस्य] निश्चयनयके स्वरूपसे अपरिचित पुरुषके लिये [व्यवहारः] व्यवहार [एव] ही [निश्चयतां] निश्चयपनेको [याति] प्राप्त होता है ।

टीकाः—'यथा हि अनवगीतसिंहस्य माणवक एव सिंहो भवति'—जिस प्रकार निश्चयसे (वास्तवमें) जिसने सिंहको नहीं जाना है उसके लिये बिलाव ही सिंहरूप होता है । तथा 'अनिश्चयज्ञस्य व्यवहारः एव निश्चयतां याति'—उसी प्रकार जिसने निश्चयका स्वरूप नहीं जाना है उसको व्यवहार ही निश्चयरूप हो जाता है अर्थात् वह व्यवहारको ही निश्चय मान बैठता है ।

भावार्थः—जैसे बालक सिंहको न पहचानता हुआ बिलावको ही सिंह मान लेता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव निश्चयके स्वरूपको न पहचानता हुआ व्यवहारको ही निश्चय मान लेता है । उसका स्पष्टीकरण करते है । जो जीव अपने शुद्धचैतन्यरूप आत्माके श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप मोक्षमार्गको नहीं पहचानता, वह जीव व्यवहार-दर्शन, ज्ञान, चारित्रका साधन करके अपनेको मोक्षका अधिकारी मानता है । अर्हन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, दया धर्मका श्रद्धान करके अपने आपको सम्यग्दृष्टि मानता है, और किञ्चित् जिनवाणीको जानकर अपनेको ज्ञानी मानता है, महाव्रतादि क्रियाका साधन करके अपनेको चारित्रवान मानता है । इस प्रकार वह शुभोपयोगमें सन्तुष्ट होकर, शुद्धोपयोग-रूप मोक्षमार्गमे प्रमादी है इसलिये केवल व्यवहारनयका अवलम्बी हुआ है अतः उसे उपदेश देना निष्फल है । यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा श्रोता भी उपदेशके योग्य नहीं है तो फिर कैसे गुण संयुक्त श्रोता चाहिये ? इसका उत्तर आगे देते हैं ।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्यतत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥८॥

अन्वयार्थः—[यः] जो जीव [व्यवहारनिश्चयौ] व्यवहारनय और निश्चयनयको [तत्त्वेन] वस्तुस्वरूपसे [प्रबुध्य] यथार्थरूपसे जानकर [मध्यस्थः] मध्यस्थ [भवति] होता है अर्थात् निश्चयनय और व्यवहारनयके पक्षपात रहित होता है [सः] वह [एव] ही [शिष्यः] शिष्य [देशनायाः] उपदेशका [अविकलं] सम्पूर्ण [फलं] फल [प्राप्नोति] प्राप्त करता है ।

टीकाः—'यः व्यवहारनिश्चयौ तत्त्वेन प्रबुध्य मध्यस्थः भवति'—जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनयके स्वरूपको यथार्थरूपसे जानकर पक्षपात रहित होता है 'स एव शिष्यः देशनायाः अविकलं फलं प्राप्नोति'—वही शिष्य उपदेशका सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है ।

भावार्थः—श्रोतामें अनेक गुण होने चाहिये परन्तु व्यवहार और निश्चयको जानकर एक पक्षका हठाग्रहीरूप न होनेका गुण मुख्य रूपसे होना चाहिये । कहा भी है—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा व्यवहार णिच्छए मुअह ।
एक्केण विणा छिज्जइ, तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥

(—पं० प्रवर आशाधरजी कृत अनगार धर्मामृत प्र० अ० पृष्ठ १८)

अर्थः—यदि तू जिनमतमें प्रवर्त्तन करता है तो व्यवहार और निश्चयको मत छोड़ । यदि निश्चयका पक्षपाती होकर व्यवहारको छोड़ेगा तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मतीर्थका अभाव होगा । और यदि व्यवहारका पक्षपाती होकर निश्चयको छोड़ेगा तो शुद्ध तत्त्वस्वरूपका अनुभव नहीं होगा । अतः पहले व्यवहार–निश्चयको भले प्रकार जानकर पश्चात् यथायोग्य इनका अंगीकार करना, पक्षपात न करना, यही उत्तम श्रोताका लक्षण है ।

प्रश्नः—जो निश्चय–व्यवहारको जाननेरूप गुण वक्ताके बतलाये थे वे ही श्रोताके भी बतला दिये तो इसमें विशेषता क्या हुई ? उत्तरः—जो गुण आधिक्यतारूपसे वक्तामें होवे वही गुण हीनतारूपसे–थोड़े अंशोमें–श्रोतामें भी होना चाहिये । इस प्रकार वक्ता और श्रोताका वर्णन किया ॥८॥

❋ भूमिका समाप्त ❋

ग्रन्थ प्रारम्भ

अब ग्रन्थका वर्णन करते हैं। इस ग्रन्थमें पुरुषके अर्थकी सिद्धिका उपाय बतायेंगे। अतः प्रथम ही पुरुषका स्वरूप कहते हैं।

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥१॥

अन्वयार्थः—[पुरुषः] पुरुष अर्थात् आत्मा [चिदात्मा] चेतनास्वरूप [अस्ति] है [स्पर्शरसगन्धवर्णैः] स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसे [विवर्जितः] रहित है [गुणपर्ययसमवेतः] गुण और पर्याय सहित है, तथा [समुदयव्ययध्रौव्यैः] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य [समाहितः] युक्त है।

टीकाः—'पुरुषः चिदात्मा अस्ति'—पुरुष है वह चैतन्यस्वरूप है।

भावार्थः—(पुरु) उत्तम चेतना गुणमें (सेते) स्वामी होकर प्रवर्त्तन करे उसको पुरुष कहते है। ज्ञान, दर्शन चेतनाके नाथको पुरुष कहते है। यही चेतना अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीन दोषोंसे रहित इस आत्माका असाधारण लक्षण है। अव्याप्ति दोष उसे कहते हैं कि जिसको जिसका लक्षण कहा गया हो वह उसके किसी लक्ष्यमें हो और किसी लक्ष्यमे न हो। परन्तु कोई आत्मा चेतना रहित नही है। यदि आत्माका लक्षण रागादिक कहें तो अव्याप्ति दूषण लगता है क्योकि रागादिक संसारी जीवोमें है, (परन्तु) सिद्ध जीवोंमें नही हैं। जो लक्षण लक्ष्यमें हो और अलक्ष्यमें भी हो उसे अतिव्याप्ति दूषण कहते है। परन्तु चेतना जीव पदार्थके अलावा किसी अन्य पदार्थमें नही पाई जाती। यदि आत्माका लक्षण अमूर्त्तत्व कहें तो अतिव्याप्ति दूषण लगता है। कारण कि जिस तरह आत्मा अमूर्तिक है उसी तरह धर्म, अधर्म, आकाश और काल भी अमूर्तिक है। तथा जो प्रमाणमें न आये उसे असम्भव कहते है। चेतना, जीव पदार्थमें, प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणसे जानी जाती है। यदि आत्माका लक्षण जड़पना कहें तो असम्भव दोष लगता है, कारण कि यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है। इस प्रकार तीनो दोष रहित आत्माका चेतन लक्षण दो प्रकार है। एक ज्ञानचेतना और दूसरी दर्शनचेतना। जो पदार्थोंको साकाररूप विशेपतासे जाने उसे ज्ञानचेतना कहते है।

जो पदार्थोको निराकाररूप सामान्यतासे देखे उसे दर्शनचेतना कहते है। यही चेतना परिणामोंकी अपेक्षासे तीन प्रकारकी है। जब यह चेतना शुद्ध ज्ञानस्वभावरूपसे परिणमन करती है तब ज्ञानचेतना, जब रागादि कार्यरूपसे परिणमन करती है तब कर्मचेतना, और जब हर्ष–शोकादि वेदनरूप कर्मके फलरूप परिणमन करती है तब कर्मफलचेतना कही जाती है। इस प्रकार चेतना अनेक स्वाँग करती है फिर भी चेतनाका अभाव कभी नही होता। इस भाँति चेतना लक्षणसे विराजमान जीव नामक पदार्थको पुरुष कहते हैं। पुनः कैसा है पुरुष ? 'स्पर्श रस गन्ध वर्णैः विवर्जितः'—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसे रहित है। आठ प्रकारके स्पर्श, दो प्रकारकी गन्ध, पाँच प्रकारका रस और पाँच प्रकारका वर्ण, ऐसे जो पुद्गलोंके लक्षण हैं, उनसे रहित अमूर्तिक है। इस विशेषणसे पुद्गल द्रव्यसे भिन्नता प्रगट की। कारण कि यह आत्मा अनादिकालसे सम्बन्धरूप जो पुद्गल द्रव्य है उसमें अहङ्कार–ममकाररूप प्रवर्त्तन करता है। जो अपने चैतन्य पुरुषको अमूर्त्तिक जाने तो द्रव्यकर्म, नोकर्म, धन धान्यादि पुद्गल द्रव्यमें अहंकार–ममकार न करे।

पुनः कैसा है पुरुष ? 'गुणपर्ययसमवेतः'—गुण पर्यायोंसे विराजमान है अर्थात् द्रव्य है वह गुण पर्यायमय है अतः आत्मा भी गुण पर्यायों सहित विराजमान है। वहाँ गुणका लक्षण सहभूत है। सह अर्थात् द्रव्यके साथ, भू अर्थात् सत्ता। द्रव्यमें जो सदाकाल पाया जावे उसे गुण कहते है। आत्मामें गुण दो प्रकारके है। ज्ञान–दर्शनादि असाधारण गुण है वह अन्य द्रव्यमे नही पाये जाते। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि साधारण गुण है जो अन्य द्रव्योमें भी पाये जाते हैं। पर्यायका लक्षण क्रमवर्त्ती है। जो द्रव्यमें अनुक्रमसे उत्पन्न हो, कदाचित्—कोई वार हो उसे पर्याय कहते हैं। आत्मामे पर्याय दो प्रकारकी हैं। जो नर–नारकादि आकाररूप अथवा सिद्धके आकाररूप पर्याय है उसे व्यंजनपर्याय कहते हैं। ज्ञानादि गुणोंका भी स्वभाव अथवा विभावरूप परिणमन है वह छह प्रकारसे हानि–वृद्धिरूप है उसे अर्थपर्याय कहते हैं। इन गुण–पर्यायोसे आत्माकी तादात्मक एकता है। इस विशेपणसे आत्माका विशेष्य जाना जा सकता है।

पुनः कैसा है पुरुष ? 'समुदयव्ययध्रौव्यैः समाहितः'—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे संयुक्त है। नवीन अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायका उत्पन्न होना वह उत्पाद, पूर्व पर्यायका नाश होना वह व्यय और गुणअपेक्षा अथवा द्रव्यअपेक्षासे शाश्वत रहना वह ध्रौव्य है। जिस प्रकार सोना कुण्डल पर्यायसे उत्पन्न होता है, कंकण पर्यायसे नष्ट होता है तथा पीतादिककी

अपेक्षा अथवा स्वर्णत्वकी अपेक्षा सभी अवस्थाओंमें शाश्वत है। इस विशेषणसे आत्माका अस्तित्व प्रगट किया ॥९॥

प्रश्नः—ऐसे चैतन्य पुरुषके अशुद्धता किस प्रकारसे हुई जिसके कारण इसे अपने अर्थकी सिद्धि करनी पड़े ? इसका उत्तर आगे कहते हैं।

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥

अन्वयार्थः—[सः] वह चैतन्य आत्मा [अनादिसन्तत्या] अनादिकी परिपाटीसे [नित्यं] निरन्तर [ज्ञानविवर्त्तैः] ज्ञानादि गुणोंके विकाररूप रागादि परिणामोंसे [परिणममानः] परिणमन करता हुआ [स्वेषां] अपने [परिणामानां] रागादि परिणामोंका [कर्त्ता च भोक्ता च] कर्त्ता और भोक्ता भी [भवति] होता है।

टीकाः—'अनादि सन्तत्या नित्यं ज्ञानविवर्त्तैः परिणममानः स्वेषां परिणामानां कर्त्ता च भोक्ता च भवति'—वह चैतन्य पुरुष अनादिकी परिपाटीसे सदा ज्ञान-चारित्र रहित जो रागादिक परिणाम उनसे परिणमन करता हुआ उन स्वयंके रागादि परिणामोंका कर्त्ता तथा भोक्ता भी है।

भावार्थः—इस आत्माके अशुद्धता नई उत्पन्न नहीं हुई है। अनादिकालसे सन्तानरूपसे द्रव्यकर्मसे रागादि होते है, फिर उन्ही रागादिसे द्रव्यकर्मका बन्ध होता है। स्वर्णकोटिकावत् अनादिसे सम्बन्ध है। उस सम्बन्धके कारण इस जीवको अपने ज्ञानस्वभावका बोध नहीं है इसलिये उदयागत कर्मपर्यायमें इष्ट-अनिष्ट भावसे राग, द्वेष, मोहरूप परिणमन कर रहा है। यद्यपि इन परिणामोके होनेमें द्रव्यकर्म कारण हैं, तथापि यह परिणाम चेतनामय है इसलिये इन परिणामोंका व्याप्य-व्यापकभावसे आत्मा ही कर्त्ता है। भाव्य-भावकभावसे आत्मा ही भोक्ता है। अब व्याप्य-व्यापक-भावका स्वरूप कहते है। जो नियमसे सहचारी हो उसे व्याप्ति कहते है। जिस प्रकार धुआँ और अग्निमे साहचर्य है अर्थात् जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि होती ही है अग्निके बिना धुआँ नही होता। उसी प्रकार रागादिभाव और आत्मामें सहचारीपना है। जहाँ रागादि होते है वहाँ आत्मा होता हो है आत्माके बिना रागादि नहीं होते। इस व्याप्ति क्रियामे जो कर्म है उसे व्याप्य कहते है और आत्मा कर्त्ता है उसे व्यापक कहते हैं। इस प्रकार जहाँ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध हो वही कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध सम्भव

है, अन्य स्थानमें सम्भव नहीं। इसी प्रकार जो जो भाव अनुभवन करने योग्य हों उन्हें भाव्य, तथा अनुभव करनेवाले पदार्थको भावक कहते हैं। ऐसा भाव्य-भावक सम्बन्ध जहाँ हो वहीं भोक्ता-भोग्य सम्बन्ध सम्भवित है, अन्य स्थान पर नही ॥१०॥

इस प्रकार इस अशुद्ध आत्माके अर्थ-सिद्धि कब होती है और अर्थ-सिद्धि किसे कहते हैं वह आगे बतलाते हैं—

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्न ॥११॥

अन्वयार्थः—[यदा] जब [सः] उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा [सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं] सर्व विभावोंसे पार होकर [अचलं] अपने निष्कम्प [चैतन्यं] चैतन्यस्वरूपको [आप्नोति] प्राप्त होता है [तदा] तब यह आत्मा उस [सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिम्] सम्यक् प्रकारसे पुरुषार्थके प्रयोजनकी सिद्धिको [आपन्नः] प्राप्त होता हुआ [कृतकृत्यः] कृतकृत्य [भवति] होता है।

टीकाः—'स यदा सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं चैतन्यमचलमाप्नोति तदा कृतकृत्यः भवति'—रागादि भावोसे लिप्त वही आत्मा जब सर्व विभावोसे पार होकर अपने चैतन्यस्वरूप आत्माको निःशंकतापूर्वक प्राप्त होता है तब वही आत्मा कृतकृत्य होता है। कैसा है यह आत्मा ? 'सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्न'—सम्यक् प्रकारसे पुरुषार्थकी सिद्धिको प्राप्त हुआ है।

भावार्थः—जब यह आत्मा स्व-पर भेदविज्ञानसे शरीरादिक पर द्रव्यको भिन्न जाने तब "यह भला-इष्ट, यह बुरा-अनिष्ट" ऐसी बुद्धिका त्याग कर देता है। कारण कि जो कुछ भी भला-बुरा होता है वह सब अपने परिणामोसे ही होता है, पर द्रव्यके करनेसे भला-बुरा नही होता इसलिये सर्व परद्रव्योमें रागद्वेष भावोंका त्याग कर देता है। जो अवशतासे (पुरुषार्थकी निर्बलतासे) रागादि उत्पन्न होता है उसके नाशके लिये अनुभव-अभ्यासमे उद्यमशील रहता है। ऐसा करते करते जब सर्व विभावभावोंका नाश हो जाता है और अक्षुब्ध समुद्रवत् शुद्धात्मस्वरूपमे लवणवत् परिणाम लीन हो जाता है, ध्याताध्येयका विकल्प भी नही रहता, ऐसा भी नही जानता कि मैं शुद्धात्मस्वरूपका ध्यान कर रहा हूँ, स्वयं ही तादात्म्यवृत्तिसे शुद्धात्मस्वरूप होकर निष्कम्प परिणमन करता है, उस समय इस आत्माने जो कुछ करना था वह कर लिया, अब कुछ करना शेष नही रहा इसलिये इसको कृतकृत्य कहते हैं। इसी अवस्थाको पुरुषार्थकी

सिद्धि कहते है । पुरुषका जो अर्थं अर्थात् प्रयोजनरूप कार्यं उसकी सिद्धि जो होनी थी वह हो गई । इस अवस्थाको जो प्राप्त हुआ उस आत्माको कृतकृत्य कहते है ॥११॥

आगे पुरुषार्थसिद्धिका उपाय कहना चाहते हैं, वहाँ प्रथम ही परद्रव्यके सम्बन्धका कारण कहते हैं । जिसके जानने पर क्या उपाय करना होता है वह कहते हैं—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

अन्वयार्थः—[जीवकृतं] जीवके किये हुए [परिणामं] रागादि परिणामोंका [निमित्तमात्रं] निमित्तमात्र [प्रपद्य] पाकर [पुनः] फिर [अन्ये पुद्गलाः] जीवसे भिन्न अन्य पुद्गल स्कन्ध [अत्र] आत्मामें [स्वयमेव] अपने आप ही [कर्मभावेन] ज्ञानावरणादि कर्मरूप [परिणमन्ते] परिणमन कर जाते है ।

टीकाः—'जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनः अन्ये पुद्गलाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ते'—जीवके किये हुए रागादि परिणामोंका निमित्तमात्र पाकर नवीन अन्य पुद्गल स्कन्ध स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप होकर परिणमन करते है ।

भावार्थः—जब जीव रागद्वेषमोहभावसे परिणमन करता है तब उन भावोंका निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य स्वय ही कर्मरूप अवस्थाको धारण करता है । विशेष इतना है कि यदि आत्मा देव-गुरु-धर्मादिक प्रशस्त रागरूप परिणमन करे तो शुभकर्मका बन्ध होता है [और इसके विपरीत अप्रशस्त राग-द्वेष-मोहरूप परिणमन करे तो अशुभ कर्मका बन्ध होता है ।]

प्रश्नः—जीवके भाव अति सूक्ष्मरूप है उनका ज्ञान जड़ कर्मको कैसे होता है ? और ज्ञान हुए बिना पुण्य-पापरूप होकर कैसे परिणमन कर जाते हैं ?

उत्तरः—जिस प्रकार मन्त्रसाधक पुरुष बैठा बैठा गुप्तरूपसे मन्त्र जपता है और उसके किये बिना ही उस मन्त्रके निमित्तसे किसीको पीड़ा उत्पन्न होती है, किसीका मरण होता है, किसीका भला होता है, कोई विडम्बनारूप परिणमन करता है,—ऐसी उस मन्त्रमें शक्ति है । उसका निमित्त पाकर चेतन-अचेतन पदार्थ स्वयं ही अनेक अवस्थायें धारण करते है । उसी प्रकार अज्ञानी जीव अपने अन्तरङ्गमें विभावभावरूप परिणमन करता है । उन भावोंका निमित्त पाकर इसके बिना किये ही कोई पुद्गल पुण्य प्रकृतिरूप परिणमन करते है और कोई पापप्रकृतिरूप परिणमन करते हैं, ऐसी

इसके भावोंमें शक्ति है। इसके भावोंका निमित्त पाकर पुद्गल स्वयं ही अनेक अवस्थायें धारण करता है, ऐसा ही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है ॥१२॥

प्रश्नः—इस जीवके जो विभावभाव होते हैं वे स्वयंसे ही होते हैं या उनका भी कोई निमित्त कारण है? इसका उत्तर आगे कहते हैं।

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्‌गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

अन्वयार्थः—[हि] निश्चयसे [स्वकैः] अपने [चिदात्मकैः] चेतनास्वरूप [भावैः] रागादि परिणामोंसे [स्वयमपि] स्वयं ही [परिणममानस्य] परिणमन करते हुए [तस्य चित अपि] पूर्वोक्त आत्माके भी [पौद्गलिकं] पुद्गल सम्बन्धी [कर्म] ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म [निमित्तमात्रं] निमित्तमात्र [भवति] होता है।

टीकाः—'हि चिदात्मकैः स्वकैर्भावैः परिणममानस्य तस्य चितः अपि पौद्गलिकं कर्म निमित्तमात्रं भवति'—निश्चयसे चैतन्यस्वरूप अपने रागादि परिणामरूपसे परिणमन किये हुए उस पूर्वोक्त आत्माके भी पौद्‌गलिक ज्ञानावरणादि कर्म निमित्तमात्र होते हैं।

भावार्थः—इस जीवके रागादि विभावभाव अपने आप ही (स्वद्रव्यके आलम्बनसे) नही होता। यदि आप ही से हो तो वह भी ज्ञान–दर्शनको तरह स्वभावभाव हो जाय और स्वभावभाव होने पर उसका भी कभी नाश नही हो सकता। इसलिये ये भाव औपाधिक हैं, अन्य निमित्तसे होते हैं और वे निमित्त ज्ञानावरणादि कर्मोंको जानना। जिस जिस प्रकार द्रव्यकर्म उदयावस्थाको प्राप्त होता है उसी उसी प्रकार आत्मा विभावभावरूप परिणमन करता है।

प्रश्नः—पुद्गलमें ऐसी कौनसी शक्ति है कि जो चैतन्यको विभावभावरूप परिणमन करवा देती है?

उत्तरः—जिस प्रकार किसी मनुष्यके सिर पर मन्त्र पढ़ी हुई धूल डाली हो तो उस धूलके निमित्तसे वह पुरुष स्वयंको भूलकर नाना प्रकारकी विपरीत चेष्टायें करता है। मन्त्रके निमित्तसे उस धूलमे ऐसी शक्ति हो जाती है कि वह बुद्धिमान पुरुषको

विपरीत *परिणमन करवा देती है। उसी प्रकार इस आत्माके प्रदेशोंमें रागादिके निमित्तसे बँधे हुए पुद्गलोंके निमित्तसे यह आत्मा स्वयंको भूलकर नाना प्रकारके विपरीत भावरूप परिणमन करता है। इसके विभावभावोंके निमित्तसे पुद्गलमें ऐसी शक्ति हो जाती है कि वह चैतन्य पुरुषको विपरीत परिणमन करवा देता है। इस भाँति भावकर्मसे द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्मसे भावकर्म होता है, इसे ही संसार कहते है ।।१३।।

आगे इस संसारका मूल कारण बताते हैं जिसका नाश होने पर पुरुषार्थ सिद्धिका उपाय बनता है:—

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ।।१४।।

अन्वयार्थः—[एवं] इस प्रकार [अयं] यह आत्मा [कर्मकृतैः] कर्मकृत [भावैः] रागादि अथवा शरीरादि भावोंसे [असमाहितोऽपि] संयुक्त न होने पर भी [बालिशानां] अज्ञानी जीवोंको [युक्तः इव] संयुक्त जैसा [प्रतिभाति] प्रतिभासित होता है और [सः प्रतिभासः] वह प्रतिभास ही [खलु] निश्चयसे [भवबीजं] संसारका बीजरूप है।

टीकाः—'स एवं अयं कर्मकृतैर्भावैः असमाहितः अपि बालिशानां युक्तः इव प्रतिभाति'— इस प्रकार यह आत्मा कर्मद्वारा किये हुए नाना प्रकारके भावोसे संयुक्त नही है तो भी अज्ञानी जीवोंको अपने अज्ञानसे आत्मा कर्मजनित भावोंसे संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है।

भावार्थः—पहले ऐसा कहा गया है कि पुद्गलकर्मका कारणभूत रागादिभाव है और रागादिभावका कारण पुद्गलकर्म है, इसलिये यह आत्मा निजस्वभावभावकी अपेक्षा कर्मजनित नाना प्रकारके भावोसे भिन्न ही चैतन्यमात्र वस्तु है।

---

* प्रत्येक द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल और भावसे है, पर द्रव्यादिका उसमें सदा अभाव ही है इसलिये कोई किसीको परिणमन नहीं करवा सकता, तो भी जीवके उस प्रकारके परिणमन करनेकी योग्यताके कालमें बाह्यमे किस सामग्रीको निमित्त बनानेमें आया था उसका ज्ञान करवानेके लिए असद्भूत व्यवहारनयसे निमित्तको कर्त्ता कहा जाता है। व्यवहार कथनकी रीति ऐसी ही है इस प्रकार जानना चाहिए।

जिस प्रकार लाल फूलके निमित्तसे स्फटिक लाल रंगरूप परिणमन करता है परन्तु वह लाल रंग स्फटिकका निजभाव नही है। स्फटिक तो स्वच्छतारूप अपने श्वेतवर्णसे ही विराजमान है। लाल रंग है वह तो स्वरूपमें प्रवेश किये बिना ऊपर ऊपर ही झलक मात्र दिखाई पड़ता है। वहाँ रत्नका पारखी जौहरी तो ऐसे ही जानता है परन्तु अपारखी (अपरीक्षक) पुरुषको सत्यरूप (वास्तवमें) वह स्फटिकमणि ही रक्त-मणिवत् लाल रंगके स्वरूप प्रतिभासित होती है। उसी प्रकार कर्म निमित्तसे आत्मा रागादिरूप परिणमन करता है, वह रागादि आत्माका निजभाव नही है, आत्मा तो अपने स्वच्छतारूप चैतन्यगुणमें विराजमान है। रागादि है वह तो स्वरूपमे प्रवेश किये बिना ऊपर ही ऊपर झलक मात्र दिखाई देता है। वहाँ ज्ञानी स्वरूपका परीक्षक तो ऐसे ही जानता है। किन्तु अपरीक्षक (अपारखी) पुरुषोंको सत्यरूप अर्थात् वास्तवमें वह आत्मा पुद्गल कर्मवत् रागादिस्वरूप ही प्रतिभासित होता है।

प्रश्नः—आपने ही तो रागादिभावोंको जीवकृत कहा था अब यहाँ उन्हें कर्मकृत कैसे कहते हो ? उत्तरः—रागादिभाव चेतनारूप हैं अतः उनका कर्त्ता जीव ही है परन्तु यहाँ श्रद्धान करवानेके निमित्त मूलभूत जीवके शुद्धस्वभावकी अपेक्षासे रागादिभाव कर्मके निमित्तसे होते है इसलिये कर्मकृत कहा है।

जैसे किसी मनुष्यको भूत (—व्यंतर) लगा हो तो वह मनुष्य उस भूतके निमित्तसे नाना प्रकारकी विपरीत चेष्टाये करता है। उन चेष्टाओंका कर्त्ता तो वह मनुष्य ही है परन्तु वह चेष्टायें मनुष्यका निजभाव नही है इसलिये उन्हें भूतकृत कहते है। उसी प्रकार यह जीव कर्मके निमित्तसे नाना प्रकार विपरीत भावोरूप परिणमन करता है, उन भावोंका कर्त्ता तो जीव ही है परन्तु वह जीवके निजभाव नही हैं अत. उन भावोंको कर्मकृत कहते हैं। अथवा कर्मकृत जो नाना प्रकारकी पर्याय, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, कर्म, नोकर्म, देव—नारक—मनुष्य—तिर्यञ्चशरीर, संहनन, संस्थानादि भेद अथवा पुत्र, मित्र, मकान, धन, धान्यादि भेद—इन समस्तसे शुद्धात्मा प्रत्यक्ष भिन्न ही है। जिस प्रकार कोई मनुष्य अज्ञानी गुरुके कहनेसे एकान्त झोंपड़ीमें बैठकर भैंसेका ध्यान करने लगा, अपनेको भैंसेके समान विशाल शरीरवाला चिन्तवन करने लगा और आकाश जितना ऊँचा सीगवाला अपनेको मानकर सोचने लगा कि मैं इस झोंपड़ीसे बाहर कैसे निकलूंगा। यदि वह अपनेको भैंसा न माने तो मनुष्य स्वरूप तो स्वयं है ही। उसी प्रकार यह जीव मोहके निमित्तसे अपनेको वर्णादिक स्वरूप मानकर देवादि

पर्यायोंमें अपनत्व मानता है। यदि न माने तो अमूर्तिक शुद्धात्मा तो आप बना ही बैठा है।

इस प्रकार यह आत्मा कर्मजनित रागादिकभाव अथवा वर्णादिकभावसे सदाकाल भिन्न है। तदुक्तम्—'वर्णाद्या वा राग मोहादयो वा। भिन्ना भावाः सर्वे एवास्य पुंसः* ॥' तो भी अज्ञानी जीवोंको आत्मा कर्मजनित भावोंसे संयुक्त प्रतिभासित होता है। 'खलु सः प्रतिभासः भवबीजम्'।—निश्चयसे यह प्रतिभास ही संसारका बीजभूत है।

भावार्थः—जैसे समस्त वृक्षोंका मूलभूत बीज है, वैसे ही अनन्त संसारका मूलकारण कर्मजनित भावोंको अपना मानना है। इस प्रकार अशुद्धताका कारण बताया ॥१४॥

आगे पुरुषार्थ सिद्धिका उपाय बताते हैं:—

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम् ॥१५॥

अन्वयार्थः—[विपरीताभिनिवेशं] विपरीत श्रद्धानका [निरस्य] नाश करके [निजतत्त्वम्] निजस्वरूपको [सम्यक्] यथार्थरूपसे [व्यवस्य] जानकर [यत्] जो [तस्मात्] अपने उस स्वरूपमेंसे [अविचलनं] भ्रष्ट न होना [स एव] वही [अयं] इस [पुरुषार्थसिद्धयुपायः] पुरुषार्थसिद्धिका उपाय है।

टीकाः—'यत् विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यक् निजतत्वं व्यवस्य तत् तस्मात् अविचलनं स एव अयं पुरुषार्थसिद्धयुपायः'।—जो विपरीत श्रद्धानका नाश करके यथार्थरूपसे निजस्वरूपको जानकर फिर अपने उस स्वरूपसे भ्रष्ट न होना, वही पुरुषार्थकी सिद्धि होनेका उपाय है।

भावार्थः—पहले जो कहा था कि संसारकी बीजभूत कर्मजनित पर्यायको आत्मरूपसे-अपनेरूप जाननेका नाम ही विपरीत श्रद्धान है और उसका मूलसे विनाश करना ही सम्यग्दर्शन है। कर्मजनित पर्यायसे भिन्न शुद्धचैतन्यस्वरूपको यथार्थतया जानना सम्यग्ज्ञान है और कर्मजनित पर्यायोसे उदासीन होकर स्वरूपमें अकम्प-स्थिर रहना सम्यक्चारित्र है। इन तीन भावोंका समुदाय ही उस जीवके कार्य सिद्ध होनेका उपाय है। दूसरा कोई उपाय सर्वथा नहीं है ॥१५॥

---

* यह पुरुष (आत्मा) शुद्धनयसे तो वर्णादि, रागादि, अथवा मोहादि सभी भावोंसे भिन्न है।

जो इस उपायमें लगते हैं अब उनका वर्णन करते हैं:—

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा ।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥१६॥

अन्वयार्थः—[एतत् पदम् अनुसरतां] इस रत्नत्रयरूप पदवीका अनुसरण करनेवाले अर्थात् इस पदवीको प्राप्त हुए [मुनीनां] मुनियोंकी [वृत्तिः] वृत्ति [करम्बिताचार-नित्यनिरभिमुखा] पापक्रिया मिश्रित आचारोसे सर्वथा परान्मुख तथा [एकान्तविरतिरूपा] परद्रव्योंसे सर्वथा उदासीनरूप और [अलौकिकी] लोकसे विलक्षण प्रकारकी [भवति] होती है ।

टीकाः—'एतत्पदं अनुसरतां मुनीनां वृत्तिः अलौकिकी भवति' ।—इस रत्नत्रयरूप पदवीको प्राप्त हुए महा मुनियोंकी रीति लौकिक रीतिसे मिलती नही है । वही कहते हैं । लोक पापक्रियाओमे आसक्त होकर प्रवर्त्तन करता है, मुनि पापक्रियाओंका चिन्तवन भी नही करते । लोक अनेक प्रकारसे शरीरकी सँभाल और पोषण करता है परन्तु मुनिराज अनेक प्रकारसे शरीरको परीषह उत्पन्न करके उन्हें सहन करते है । और लोकको इन्द्रिय–विषय अत्यन्त मिष्ट लगते है जबकि मुनिराज विषयोंको हलाहल विष समान जानते हैं ।

लोकको अपने पास जन–समुदाय रुचिकर लगता है जबकि मुनिराज दूसरोंका संयोग होने पर खेद मानते हैं । लोकको वस्ती सुहावनी लगती है किन्तु मुनिको निर्जन स्थान ही प्रिय लगता है । कहाँ तक कहे ? महामुनिकी रीति लौकिक रीतिसे विरुद्ध होती है । कैसी है मुनियोकी प्रवृत्ति ? 'करम्बिताचार नित्यनिरभिमुखा'—पापक्रिया सहित आचारसे परान्मुख है । जिस प्रकार श्रावकका आचार पापक्रियासे मिश्रित है वैसे मुनीश्वरोके आचारमें पापका मिश्रण नही है । अथवा 'करम्बित' अर्थात् कर्मजनितभाव मिश्रित आचरणसे परान्मुख है, केवल निजस्वरूपका अनुभव करते हैं इसलिये 'एकान्त-विरतिरूपा' अर्थात् सर्वथा पापक्रियाके त्यागी हैं अथवा एक निजस्वभावके अनुभवसे सर्वथा परद्रव्योसे उदासीन स्वरूप हैं । रत्नत्रयके धारक महामुनियोंकी ऐसी ही प्रवृत्ति होती है ॥१६॥

उपदेश देनेका क्रम

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति ।
तस्यैक देशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥१७॥

अन्वयार्थः—[यः] जो जीव [बहुशः] बारबार [प्रदर्शितां] बताने पर भी [समस्त विरतिं] सकलपापरहित मुनिवृत्तिको [जातु] कदाचित् [न गृह्णाति] ग्रहण न करे तो [तस्य] उसको [एकदेशविरतिः] एक देश पापक्रिया रहित गृहस्थाचार [अनेन बीजेन] इस हेतुसे [कथनीया] कथन करना अर्थात् समझाना चाहिए।

टीकाः—'यः बहुशः प्रदर्शितां समस्तविरतिं न जातु गृह्णाति तस्य एकदेशविरतिः अनेन बीजेन कथनीया।'—जो जीव अनेकबार उपदेश देने पर भी सकल पापरहित महाव्रतकी क्रियाको कदाचित् ग्रहण न करे तो उस जीवको एकदेश पापरहित श्रावक-क्रिया इस तरह बतावे।

भावार्थः—जो जीव उपदेश श्रवण करनेमें रुचिवान हो उसे प्रथम ही बारबार मुनिधर्मका उपदेश देना चाहिये। और यदि वह जीव मुनिपद अंगीकार न करे तो बादमें उसे श्रावक धर्मका उपदेश देना योग्य है ॥१७॥

श्रावक धर्मके उपदेशकी रीति आगे बताते हैं उसी रीतिसे उपदेश देना चाहिये। जो इस अनुक्रमको छोड़कर उपदेश देता है उस उपदेशदाताकी निन्दा करते हैं:—

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥१८॥

अन्वयार्थः—[यः] जो [अल्पमतिः] तुच्छ बुद्धि उपदेशक [यतिधर्मं] मुनिधर्मका [अकथयन्] कथन न करके [गृहस्थधर्मं] श्रावक धर्मका [उपदिशति] उपदेश देता है [तस्य] उस उपदेशकको [भगवत्प्रवचने] भगवानके सिद्धान्तमें [निग्रहस्थानं] दण्ड देनेका स्थान [प्रदर्शितं] बताया है।

टीकाः—'यः अल्पमतिः यतिधर्मं अकथयन् गृहस्थधर्मं उपदिशति तस्य भगवत्प्रवचने निग्रहस्थानं प्रदर्शितं'।—जो तुच्छ बुद्धिवाला उपदेशक मुनिधर्मका उपदेश न देकर, गृहस्थधर्मका उपदेश देता है, उसे भगवानके सिद्धान्तमें दण्डका स्थान बताया है।

भावार्थः—जो उपदेशक पहले यतीश्वरके धर्मका तो उपदेश न सुनावे अपितु प्रथम ही श्रावकधर्मका व्याख्यान करे तो उस उपदेशकको जिनमतमें प्रायश्चितरूप दण्डका पात्र कहा गया है ॥१८॥

आगे उसको दण्ड देनेका कारण कहते हैं:—

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः ।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

अन्वयार्थः—[यतः] जिस कारणसे [तेन] उस [दुर्मतिना] दुर्बुद्धिके [अक्रम-कथनेन] क्रमभंग कथनरूप उपदेश करनेसे [अतिदूरं] अत्यन्त दूर अर्थात् अत्यधिक [प्रोत्सहमानोऽपि] उत्साहवान होने पर भी [शिष्यः] शिष्य [अपदे अपि] तुच्छ स्थानमें ही [संप्रतृप्तः] सन्तुष्ट होकर [प्रतारितः भवति] ठगाया जाता है ।

टीकाः—'यतः तेन दुर्मतिना अक्रमकथनेन शिष्यः प्रतारितो भवति' ।—जिस कारणसे उस मन्दबुद्धिवाले उपदेशक द्वारा अनुक्रमको छोड़कर कथन करनेसे सुननेवाला शिष्य ठगाया जाता है । पहले ही श्रावक धर्मका उपदेश सुनकर शिष्य क्यों ठगाया जाता है उसका कारण कहते हैं । कैसा है शिष्य ? "अतिदूरं प्रोत्सहमानो अपि अपदेऽपि संप्रतृप्तः" । अत्यन्त दूरतक जानेके लिये उत्साहित हुआ था तो भी अपद जो तुच्छ स्थान उसमें ही संतुष्ट हुआ है । इस शिष्यके अंतरंगमे इतना अधिक उत्साह उत्पन्न हुआ था कि यदि प्रथम ही मुनिधर्म सुना होता तो मुनिपदवी ही अंगीकार करता । परन्तु उपदेशदाताने उसको प्रथम ही श्रावकधर्मका उपदेश दिया अतः उसने उसे ही अंगीकार कर लिया । फलतः मुनिधर्मसे वंचित ही रह गया । इस वास्ते उस उपदेशदाताको इस विधानके लिये दण्ड देना योग्य है ॥१९॥

श्रावकधर्म-व्याख्यान

जो जीव मुनिधर्मका भार उठानेमें असमर्थ हैं उनके लिये आचार्य आगे श्रावकधर्मका व्याख्यान करते हैं। वहाँ श्रावकको धर्मसाधनमें क्या करना चाहिये उसका व्याख्यान किया जा रहा है।

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम् ।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति ॥२०॥

अन्वयार्थः—[एवं] इस प्रकार [तस्यापि] उस गृहस्थको भी [यथाशक्ति] अपनी शक्ति अनुसार [सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मकः] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीन भेदरूप [मोक्षमार्गः] मुक्तिका मार्ग [नित्यं] सर्वदा [निषेव्यः] सेवन करना योग्य [भवति] है।

टीकाः—'तस्य अपि यथाशक्ति एवं मोक्षमार्गः निषेव्यः भवति'।—उस गृहस्थको भी अपनी शक्ति अनुसार, जिसका वर्णन आगे किया जा रहा है, ऐसे मोक्षमार्गका सेवन करना योग्य है।

भावार्थः—मुनिके तो मोक्षमार्गका सेवन सम्पूर्ण रूपसे होता है और गृहस्थको भी अपनी शक्ति प्रमाण मोक्षमार्गका थोड़ा बहुत सेवन करना चाहिये। कारण कि धर्मका कोई दूसरा अंग नही है जिसके सेवन करनेसे अपना भला हो सके। कैसा है मोक्षमार्ग? 'सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मकः'—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका त्रिक जिसका स्वरूप है। भिन्न भिन्न तीन मोक्षमार्ग नहीं है। तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है ॥२०॥

इन तीनोंमें प्रथम किसको अंगीकार करना चाहिये वह कहते हैं:—

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥

अन्वयार्थः—[तत्रादौ] इन तीनोमें प्रथम [अखिलयत्नेन] समस्त प्रकार सावधानतापूर्वक यत्नसे [सम्यक्त्वं] सम्यग्दर्शनको [समुपाश्रयणीयम्] भले प्रकार अंगीकार करना चाहिये [यतः] क्योंकि [तस्मिन् सति एव] उसके होने पर ही [ज्ञानं] सम्यग्ज्ञान [च] और [चारित्रं] सम्यक्चारित्र [भवति] होता है।

टीकाः—'तत्र आदौ अखिलयत्नेन सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयम् ।' इन तीनोंमें प्रथम ही समस्त उपायोंसे, जिस प्रकार भी बन सके वैसे, सम्यग्दर्शन अंगीकार करना चाहिये। इसके प्राप्त होने पर अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त होता है। और इसके बिना सर्वथा मोक्ष नही होता। यह स्वरूपकी प्राप्तिका अद्वितीय कारण है। अतः इसके अंगीकार करनेमें किंचित् मात्र भी प्रमाद नही करना। मृत्युका वरण करके भी इसे प्राप्त करनेका प्रयत्न अवश्य करना। बहुत कहाँ तक कहे ? इस जीवके भला होनेका उपाय सम्यग्दर्शन समान अन्य कोई नही। इसलिये उसे अवश्य अंगोकार करना। इसे ही प्रथम अंगीकार करनेका क्या कारण है वह बताते है। 'यतः तस्मिन् सति एव ज्ञानं च चरित्रं च भवति' ।—उस सम्यग्दर्शनके होने पर ही सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र होता है।

भावार्थः—सम्यक्त्व बिना ग्यारह अंग तक पढ़ ले तो भी अज्ञानी ही कहा जाता है। फिर महाव्रतोंका साधन करके अन्तिम ग्रैवेयक तकके बन्धयोग्य विशुद्ध परिणाम करे तो भी वह असंयमी ही कहलाता है। तथा सम्यक्त्वसहित जितना भी जानपना होवे उस सभीका नाम सम्यग्ज्ञान है और जो थोड़ा भी त्यागरूप प्रवर्तन करे तो उसे सम्यक्चारित्र कहा जाता है। जिस प्रकार अंक सहित शून्य हो तो वह प्रमाणमें आता है किन्तु अंक बिना शून्य तो शून्य ही है। उसी प्रकार सम्यक्त्वके बिना ज्ञान और चारित्र व्यर्थ ही हैं। अतः पहले सम्यक्त्व अंगीकार करके पश्चात् अन्य साधन करना चाहिये ।।२१।।

इस प्रकार जो सम्यक्त्वका लक्षण जाने तो उसे अंगीकार करे। इसलिये [प्रथम ही] उस सम्यक्त्वका लक्षण कहते हैं।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत् ।।२२।।

अन्वयार्थः—[जीवाजीवादीनां] जीव अजीवादि [तत्त्वार्थानां] तत्त्वार्थोंका [विपरीताभिनिवेशविविक्तं] विपरीत अभिनिवेश (आग्रह) रहित अर्थात् अन्यको अन्यरूप समझने रूप जो मिथ्याज्ञान है उससे रहित [श्रद्धानं] श्रद्धान अर्थात् दृढ़विश्वास [सदैव] निरन्तर ही [कर्त्तव्यं] करना चाहिये। कारण कि [तत्] वह श्रद्धान ही [आत्मरूपं] आत्माका स्वरूप है।

टीकाः—'जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां श्रद्धानं सदैव कर्त्तव्यं' ।—जीव अजीव आदि जो तत्त्वार्थ—तत्त्व अर्थात् जिसका जैसा कुछ निजभाव है वैसा ही होना वह, और उस

तत्त्वसे संयुक्त जो अर्थ अर्थात् पदार्थ वही तत्त्वार्थ—उसका श्रद्धान अर्थात् ऐसे ही है अन्य प्रकारसे नहीं है ऐसा प्रतीतभाव वही सदा कर्त्तव्य है। कैसा श्रद्धान करना योग्य है ? 'विपरीताभिनिवेशविविक्तं' अर्थात् अन्यको अन्यरूप माननेरूप मिथ्यात्वसे रहित श्रद्धान करना। 'तत् आत्मरूपं अस्ति'—वही श्रद्धान आत्माका स्वरूप है। जो श्रद्धान क्षायिक सम्यग्दृष्टिके उत्पन्न होता है वही सिद्ध अवस्था तक रहता है। इसलिये वह उपाधिभाव नहीं है, आत्माका निजभाव है।

भावार्थः—तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनका लक्षण है। वह तत्त्वार्थश्रद्धान दो प्रकारका है। एक सामान्यरूप, एक विशेषरूप। जो परभावोंसे भिन्न अपने चैतन्य-स्वरूपको आपरूपसे श्रद्धान करे उसे सामान्य तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं। यह श्रद्धान तो नारको, तिर्यञ्चादि सर्व सम्यग्दृष्टि जीवोंके होता है। और जीव—अजीवादि सात तत्त्वोंके विशेषण जानकर अर्थात् उनके भेदोंको जानकर श्रद्धान करे उसे विशेष तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं। यह श्रद्धान मनुष्य, देवादि विशेष बुद्धिवान जीवोंके होता है। परन्तु राजमार्ग (मुख्यमार्ग)की अपेक्षा साततत्त्वोंको जानना वही सम्यक्त्वका—सम्यक्-श्रद्धानका कारण है। कारण कि यदि तत्त्वोंको जाने नही तो श्रद्धान किसका करे ? इसलिये सात तत्त्वोंका वर्णन संक्षेपमें करते है।

१. जीवतत्त्वः—प्रथम ही जीवतत्त्व चेतना लक्षणसे विराजमान (वह) शुद्ध, अशुद्ध और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है। वहाँ (१) शुद्ध जीवतत्त्व—जिन जीवोंके सर्व गुण—पर्याय अपने निजभावरूप परिणमन करते है अर्थात् जिनके केवलज्ञानादि गुण शुद्ध परिणति—पर्यायसे विराजमान हुए हैं उन्हें शुद्ध जीव कहते है।

(२) अशुद्ध जीवतत्त्वः—जिन जीवोंके सर्व गुण—पर्याय विकारभावको प्राप्त हो रहे है, ज्ञानादि गुण आवरणसे आच्छादित हो रहे है, उनमेंसे जो थोड़े बहुत प्रगटरूप है वह विपरीत परिणमन कर रहे है और जिनकी परिणति रागादिरूप परिणमन कर रही है उन मिथ्यादृष्टि जीवोंको अशुद्ध जीव कहते है।

(३) मिश्रजीवः—जिन जीवोके सम्यक्त्वादि गुणोंकी कुछ शक्ति शुद्ध हो गई है अथवा उनमें भी कुछ मलिनता शेष रह गई है अर्थात् कोई ज्ञानादि गुणोंकी कुछ शक्ति शुद्ध हो गई है तथा शेष सब अशुद्ध रह गई है। कुछ गुण अशुद्ध ही हो रहे हैं, ऐसी तो गुणोंकी दशा हुई है और जिनकी परिणति शुद्धाशुद्धरूप परिणमन कर रही है उन जीवोंको शुद्धाशुद्धस्वरूप मिश्र कहते है। इस भाँति जीवतत्त्व तीन प्रकारका है।

२. अजीवतत्त्वः—जो चेतनागुणसे रहित है वह पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल (कालाणुरूप) पांच प्रकारके है। उनमें (१) पुद्गलद्रव्य–स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण संयुक्त अणु तथा स्कन्धके भेदसे दो प्रकारके है। उनमें जो एकाकी–अविभागी परमाणु है उसे अणु कहते हैं। अनेक अणु मिलकर स्कन्धरूप होने पर स्कन्ध कहलाता है। अथवा पुद्गल द्रव्यके छह भेद है। (१) स्थूलस्थूल–काष्ठ पाषाणादि जो छेदे भेदे जाने पर बादमें मिलें नही उन्हे स्थूलस्थूल पुद्गल कहते है। (२) स्थूल–जो जल, दूध, तेल आदि द्रव पदार्थोंकी तरह छिन्न भिन्न होने पर फिर तुरन्त ही मिल सकें उन्हें स्थूल कहते हैं। (३) स्थूलसूक्ष्म–आताप, चांदनी, अन्धकारादि जो आंखसे दिखाई पड़ें किन्तु पकड़नेमें न आवें उन्हे स्थूलसूक्ष्म कहते है (४) सूक्ष्मस्थूल—जो शब्द, गन्धादि आंखसे दिखाई न पड़े किन्तु अन्य इन्द्रियोसे ज्ञानमें आवे उन्हें सूक्ष्मस्थूल कहते हैं। (५) सूक्ष्म–जो कार्मण स्कन्धादिक बहुत परमाणुओंके स्कन्ध है परन्तु इन्द्रियगम्य नही हैं उन्हें सूक्ष्म कहते है (६) सूक्ष्मसूक्ष्म–अति सूक्ष्म स्कन्ध अथवा परमाणुको सूक्ष्मसूक्ष्म कहते है। इस प्रकार इस लोकमे प्रचुर प्रसार इस पुद्गल द्रव्यका ही है।

(२) धर्मद्रव्यः—जीव और पुद्गलोंको गति करनेमें सहकारी गुणसंयुक्त लोकप्रमाण एक द्रव्य है।

(३) अधर्मद्रव्यः—जीव और पुद्गलोंको गति पूर्वक स्थिति करनेमें सहकारीगुण-संयुक्त लोकप्रमाण एक द्रव्य है।

(४) आकाशद्रव्यः—सर्व द्रव्योंको अवगाहन हेतुत्वलक्षणसंयुक्त लोकालोक प्रमाण एक द्रव्य है। जिसमें सब द्रव्यें पाई जावें उसे लोक औरजहां केवल एक आकाश ही है उसे अलोक कहते हैं। दोनोंकी सत्ता भिन्न नही है अतः एक ही द्रव्य है।

(५) कालद्रव्यः—सर्व द्रव्योको वर्तनाहेतुत्वलक्षणसंयुक्त लोकके एक एक प्रदेश पर स्थित एक एक प्रदेश मात्र असख्यात द्रव्य है। उनके परिणामके निमित्तसे समय, आवली आदि व्यवहारकाल है। इस प्रकार जीव द्रव्य सहित छह द्रव्य जानना। कालके बहु प्रदेश नहीं हैं अतः कालके विना शेष पांच द्रव्योंको पंचास्तिकाय कहते है। इसमें जीवतत्त्व और पुद्गल–अजीवतत्त्वके परस्पर सम्बन्धसे अन्य पांच तत्त्व होते है।

३. आस्रवतत्त्वः—जीवके रागादि परिणामोंसे योगद्वारा आनेवाले पुद्गलके आगमनको आस्रवतत्त्व कहते है।

४. बन्धतत्त्वः—जीवकी अशुद्धताके निमित्तसे आये हुए पुद्‌गलोंका ज्ञानावरणा-दिरूप अपनी स्थिति और रससंयुक्त आत्मप्रदेशोंके साथ सम्बन्धरूप होनेको बन्धतत्त्व कहते है ।

५. संवरतत्त्वः—जीवके रागादि परिणामके अभावसे पुद्‌गलोंके न आनेको संवर-तत्त्व कहते है ।

६. निर्जरातत्त्वः—जीवके शुद्धोपयोगके बलसे पूर्वमें बँधे हुए कर्मोंके एकदेश नाश होनेको संवरपूर्वक निर्जरा कहते है । कर्मके फलको भोगने पर जो उनकी निर्जरा की जाती है वह निर्जरा मोक्षके लिए कारणभूत नही है ।

७. मोक्षतत्त्वः—सर्वथा कर्मके नाश होने पर जीवके निजभाव प्रगट होनेको मोक्षतत्त्व कहते है । यह सात तत्त्वार्थ जानना । पुण्य–पाप तत्त्व है वह आस्रवतत्त्वके भेद है इसलिये अलग नही कहे गए । इस प्रकार यह तत्त्वार्थका श्रद्धान है वही सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है ।

प्रश्नः—इस लक्षणमें अव्याप्तिदोष आता है। किस प्रकार? जिस समय सम्यग्दृष्टि विषय–कषायकी तीव्रतारूप परिणमन करता है तब ऐसा श्रद्धान कैसे रह सकता है ? लक्षण तो वह है जो लक्ष्यमें सर्वथा सदाकाल पाया जावे ।

उत्तरः—जीवके दो भाव हैं। एक श्रद्धानरूप है, दूसरा परिणमनरूप है । श्रद्धानरूप तो सम्यक्त्वका लक्षण है और परिणामरूप चारित्रका लक्षण है । सम्यग्दृष्टि विषय–कषायके परिणमनरूप हुआ है, श्रद्धानमें प्रतीति यथावत है । "जिस प्रकार गुमाश्ता साहूकारका चाकर है । उसके अन्तरङ्गमें ऐसी प्रतीति है कि यह सभी कुछ सेठका कार्य है, मेरा घर तो भिन्न ही है । परिणामोंसे तो सेठके कार्यमें प्रवर्त्तन करता है और उस सेठके कार्यको "मेरा–मेरा" भी कहता है, नफा–नुकसान होने पर हर्ष–शोक भी करता है और उस प्रतीतिको बारबार सँभालता भी नही है । परन्तु जिस समय उस सेठका और अपना हिसाब करता है तब जैसी प्रतीति अन्तरङ्गमें थी वैसी प्रगट करता है । सेठके कार्यमे प्रवर्तन करते समय वह प्रतीति शक्तिरूप रहती है । कदाचित् वह सेठके धनकी चोरी करके उसे अपना जाने तो उसे अपराधी कहते हैं । फिर वह गुमाश्ता सेठकी नौकरीको पराधीन दुखदायक मानता है परन्तु अपने स्वयंके धनके बल–बिना आजीविकाके वशवर्त्ती होकर उसके काममें प्रवर्तन करता है ।" वैसे ही ज्ञानी कर्मके उदयको भोगता है ।

इसके अन्तरङ्गमें ऐसी प्रतीति है कि यह सब दिखावा मात्र भेष है, मेरा स्वरूप तो उन सबसे भिन्न ही है, परिणामोंके द्वारा औदयिक भावोंमें परिणमन करता है और उदयके सम्बन्धके वश "मेरा-मेरा" भी कहता है, इष्ट-अनिष्टमें हर्ष-विषाद भी करता है और अपनी उस प्रतीतिको बारबार सँभालता भी नही है। परन्तु जिस समय उस कर्म और अपने स्वरूपका विचार करता है तब जैसी प्रतीति अन्तरङ्गमें थी वैसी ही प्रगट करता है। फिर उस कर्मके उदयमे वह प्रतीति शक्तिरूप रहती है यदि कदाचित् कभी भी उस कर्मके उदयको श्रद्धानमें अपना जाने तो उसे मिथ्यात्वी कहते हैं।

पुनः वह ज्ञानी कर्मके उदयको पराधीन दुख जानता है परन्तु अपने शुद्धोपयोगके बल-विना पूर्वबद्ध कर्मके वश होकर कर्मके औदयिक भावोंमें प्रवर्तन करता है। इस प्रकार सम्यक्त्वीके तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन परिणमनरूप तो निर्बाधरूपसे निरन्तर ही है परन्तु ज्ञानोपयोग अपेक्षासे देखा जावे तो सामान्यरूप अथवा विशेषरूप, शक्ति अवस्थामें अथवा व्यक्त अवस्थामें (-सम्यक्रूप परिणमन तो) सदाकाल होता ही है।

प्रश्नः—भले ही इस लक्षणमें अव्याप्ति दोष नही है परन्तु अतिव्याप्ति दोष तो लगता है। कारण कि द्रव्यलिंगी मुनि जिनप्रणीत सात तत्त्वोंको ही मानता है अन्य मतके कल्पित तत्त्वोंको नहीं मानता। लक्षण तो ऐसा होना चाहिये जो लक्ष्यके अलावा अन्य स्थानमें न पाया जावे।

उत्तरः—द्रव्यलिंगी मुनि जिनप्रणीत तत्त्वको ही मानता है परन्तु विपरीताभिनिवेशसे संयुक्त मानता है, शरीराश्रित क्रियाकाण्डको अपनी जानता है इससे अजीवतत्त्वमें जीवतत्त्वका श्रद्धान करता है। पुनः आस्रव-बन्धरूप जो शील * संयमादिकरूप परिणाम हैं उन्हें संवर-निर्जरारूप मानकर मोक्षका कारण मानता है। द्रव्यलिंगी पापसे तो विरक्त हुआ है परन्तु पुण्यमें उपादेय बुद्धिसे परिणमन करता है इसलिये उसे तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं है। इस भाँति (विपरीत अभिप्रायरहित) तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन अंगीकार करना चाहिये ॥२२॥

सम्यक्त्वके आठ अङ्गोंका वर्णन—

१—निःशङ्कित अङ्ग

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्त्तव्या ॥२३॥

* शील = शुभभावरूप व्यवहार ब्रह्मचर्यादि।

अन्वयार्थः—[अखिलज्ञैः] सर्वज्ञदेव द्वारा [उक्तं] कहा गया [इदं] यह [सकलं] समस्त [वस्तुजातं] वस्तुसमूह [अनेकान्तात्मकं] अनेकान्तस्वभावरूप है वह [किमु सत्यं] क्या सत्य है ? [वा असत्यं] अथवा असत्य है [इति] ऐसी [शंका] शंका [जातु] कभी भी [न] नही [कर्त्तव्या] करना चाहिये।

टीकाः—'अखिलज्ञैः इदं सकलं वस्तुजातं अनेकान्तात्मकं उक्तं किमु सत्यं वा असत्यं वा। जातु इति शंका न कर्त्तव्या'। सर्वज्ञदेवने यह समस्त जीवादि पदार्थोंका समूह अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभावसहित कहा है। क्या वह सच्चा है या झूठा ऐसी शंका कभी नहीं करना चाहिए।

भावार्थः—शंका नाम संशयका है। जिन प्रणीत पदार्थोंमें शंका नही करना। इसीको [1]निःशंकित नामक अंग कहते हैं (कारण कि जिन भगवान अन्यथावादी नही है।)

२—[2]निःकांक्षित अंग

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषित परसमयानपि च नाकांक्षेत् ॥२४॥

अन्वयार्थः—[इह] इस [जन्मनि] लोकमें [विभवादीनि] ऐश्वर्य, सम्पदा आदि, [अमुत्र] परलोकमें [चक्रित्वकेशवत्वादीन्] चक्रवर्त्ती, नारायण आदि पदोंको [च] और [एकान्तवाददूषित परसमयान्] एकान्तवादसे दूषित अन्य धर्मोंको [अपि] भी [न आकांक्षेत्] न चाहे।

टीकाः—'इह जन्मनि विभवादीनि न आकांक्षेत्'—सम्यग्दृष्टि इस लोकमें तो सम्पदा इत्यादि तथा पुत्रादिकको नही चाहता 'च अमुत्र चक्रित्व केशवत्वादीन् न आकांक्षेत्' तथा परलोकमें चक्रवर्त्तीपद, नारायणपद और आदि शब्दसे इन्द्रादिक पदको नही चाहता।

---

१ स्वामी समन्तभद्राचार्यकृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार गा० ११ में कहा है कि तत्त्व यही है ऐसे ही है अन्य नहीं है अथवा अन्य रीतिसे नहीं है। ऐसी निष्कम्प तलवारकी तीक्ष्णधारके समान सन्मार्गमें संशय रहित रुचि-विश्वासको निःशंकित अंग कहते है।

२ निःकांक्षा-(विषयोंकी व विषयके साधनोंकी अभिलाषा-(आशाको कांक्षा कहते हैं) अर्थात कर्मके वश, अन्तवाले, उदयमें दुखमिश्रित और पापका बीजरूप सुखमें अनित्यताका श्रद्धान होना वह निःकांक्षित अंग है। (रत्नकरण्डश्रावकाचार गाथा १२)

'एकान्तवाददूषितपरसमयान् अपि न आकांक्षेत्' वस्तुके एकान्त स्वरूपको कथन करनेके कारण जो दूषित है ऐसे अन्य मत है उनको भी नही चाहता ।

भावार्थ—नि:कांक्षित नाम वांछा रहितका है । कारण कि इस लोक सम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी पुण्यके फलको नहीं चाहता इसलिये सम्यक्त्वी पुण्यके फलरूप इन्द्रियोंके विषयोको आकुलताका निमित्त होनेसे दुखरूप ही मानता है । फिर अन्यमती नाना प्रकारकी एकान्तरूप कल्पना करते है उन्हे भला जानकर नहीं चाहता है ।

३—[1]निर्विचिकित्सा अंग

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु ।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५॥

अन्वयार्थः—[क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु] भूख, प्यास, सरदी, गरमी इत्यादि [नानाविधेषु] नाना प्रकारके [भावेषु] भावोमें और [पुरीषादिषु] विष्टा आदि [द्रव्येषु] पदार्थोमें [विचिकित्सा] ग्लानि [नैव] नही [करणीया] करना चाहिये ।

टीकाः—'क्षुत्तृषा शीतोष्णप्रभृतिषु नाना विधेषु भावेषु द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया' क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण इत्यादि नाना प्रकारकी दुखदायक पर्यायों में एव अपवित्र विष्टा आदि पदार्थोमें ग्लानि नही करना चाहिए ।

भावार्थः—विचिकित्सा नाम असुहावनेका है अथवा ग्लानिका है, उनसे जो रहित हो उसे निर्विचिकित्सा कहते है । पापके उदयसे दुखदायक भावोंके संयोग होने पर उद्वेगरूप न होना, कारण कि उदयाधीन कार्य अपने वश नही है । इस दुखसे अमूर्तिक आत्माका घात भी नहीं है फिर विष्टादि निन्द्य वस्तुमे ग्लानिरूप न होना, क्योंकि वस्तुका ऐसा ही स्वभाव है । इसमें आत्माको क्या ? अथवा जिस शरीरमे आत्मा निवास करती है उसमें तो सभी वस्तुयें निन्द्य ही है ॥२५॥

---

१ निर्विचिकित्सा अङ्ग–रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रसे पवित्र परन्तु स्वाभाविक अपवित्र शरीरमें (मुनि-धर्मात्माके मलिन शरीरमें) ग्लानि न करके उनके गुणोंमें प्रीति करना निर्जुगुप्सा अंग कहलाता है (रत्नकरण्ड श्रा० गा० १३)

४—[1]अमूढ़दृष्टि अंग

लोके शास्त्राभासे[2] समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥२६॥

अन्वयार्थः—[लोके] लोकमें [शास्त्राभासे] शास्त्राभासमें [समयाभासे] धर्माभासमे [च] और [देवताभासे] देवाभासमें [तत्वरुचिना] तत्त्वोंमें रुचिवान सम्यग्दृष्टि पुरुषको [नित्यमपि] सदाही [अमूढ़दृष्टित्वं] मूढतारहित श्रद्धान [कर्त्तव्यं] करना चाहिए ।

टीकाः—'तत्वरुचिना नित्यं अपि अमूढदृष्टित्वं कर्त्तव्यं'—तत्वश्रद्धावान पुरुषको सदैव अमूढदृष्टि होना चाहिए । मूढ़दृष्टि यथार्थज्ञानरहितका नाम है उसरूप श्रद्धान वालेको होना योग्य नही । कहाँ कहाँ होना योग्य नही ? वह आगे बतलाते हैं । लोके–लोकमें बहुतसे जीव विपरीत भावमें प्रवर्त्तन करते हों तो भी स्वयंको उनकी तरह (देखादेखीसे) प्रवर्त्तन नही करना चाहिए । शास्त्राभासे–शास्त्र जैसा प्रतिभासित होने वाले अन्यवादियों द्वारा रचे गए ग्रन्थोंमें रुचिरूप नहीं प्रवर्त्तन करना चाहिए । समयाभासे–सच्चेमतकी तरह ही प्रतिभासित होने पर अन्यमतमें कोई क्रिया भली जैसी मालूम पड़े तो भी उसे भला जानकर प्रवर्त्तन नही करना । अथवा समय अर्थात् पदार्थ सरीखा प्रतिभासित होवे ऐसे अन्यवादियों द्वारा कहे गए कल्पित तत्व युक्ति युक्त सा भासित होने पर भी उसमें सत्यबुद्धि नही करनी चाहिये । देवताभासे–यद्यपि देव जैसा प्रतिभासित होवे तो भी अरहन्त देवके अलावा अन्य देवोंमें कुछ किंचित् चमत्कारादि देखकर विनयरूप प्रवर्त्तन नही करना चाहिए । 'च'कारसे और भी जो गुरु जैसा प्रतिभासित हो ऐसे विषय–कषायसे युक्त लम्पटी वेषधारीके प्रति विनयरूप प्रवर्त्तन नहीं करना चाहिए । इस भाँति यथार्थज्ञानसे भ्रष्ट करनेवाले कारणोसे पूर्णरूपेण सावधान रहना चाहिये ॥२६॥

---

१ अमूढत्व–दुखदायक खोटे मार्ग अथवा कुत्सित् धर्मोंमें और कुमार्गोंमें रहनेवाले पुरुषोंमें (भले ही वह लौकिकमें प्रख्यात हों) उनमें मनसे भी प्रामाणिकता माने नहीं–कायासे प्रशंसा और वचनसे स्तुति करे नहीं–उसे अमूढ़दृष्टि कहते हैं ॥ गा० १४ ॥

२ समयाभास यथार्थमें जो पदार्थ तत्त्वार्थ नहीं है परन्तु भ्रम बुद्धिसे वैसे (तत्त्वार्थरूप) दिखाई पड़ने लगें जैसे कि मिथ्यादृष्टियोंके बनाए शास्त्र यथार्थमें तो शास्त्र नहीं हैं परन्तु भ्रमसे शास्त्र जैसे भासित हों वह शास्त्राभास–समयाभास है ।

५—[1]उपगूहन अंग

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥२७॥

अन्वयार्थः—[उपबृंहणगुणार्थं] उपबृंहण नामक गुणके लिये [मार्दवादिभावनया] मार्दव, क्षमा, सन्तोषादि भावनाओंसे [सदा] निरन्तर [आत्मनो धर्मः] अपने आत्माके धर्मकी अर्थात् शुद्धस्वभावकी [अभिवर्द्धनीयः] वृद्धि करनी चाहिये और [परदोषनिगूहनमपि] दूसरेके दोषोंको गुप्त भी रखना [विधेयम्] चाहिए (यह भी कर्त्तव्य है)।

टीकाः—'उपबृंहणं गुणार्थं मार्दवादिभावनया सदा आत्मनः धर्मः अभिवर्द्धनीयः।' उपबृंहण नामक गुणके लिए मार्दव अर्थात् कोमल परिणाम तथा आदि शब्दसे क्षमा संतोषादि भावनासे सदा अपने आत्माका निजस्वभाव प्रगटरूपसे बढ़ाना 'परदोषनिगूहनमपि विधेयम्' अन्य जीवका जो कोई निन्दायोग्य दोष हो उसे प्रगट न करके दाब देना उचित है।

भावार्थः—उपबृंहणका अर्थ बढ़ाना है अतः अपने आत्माका धर्म बढ़ाना। पुनः इस अंगका अपरनाम उपगूहन भी है, इस अपेक्षासे दूसरेके दोषों को छिपाना योग्य है क्योंकि उन्हें प्रगट करनेसे उनको दुःख उत्पन्न होता है ॥२७॥

६—[2]स्थितिकरण अंग

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥२८॥

अन्वयार्थः—[कामक्रोधमदादिषु] काम, क्रोध, मद, लोभादि विकार [न्यायात् वर्त्मनः] न्यायमार्गसे अर्थात् धर्ममार्गसे [चलयितुम्] विचलित करवानेके लिए [उदितेषु] प्रगट हुआ हो तब [श्रुतं] शास्त्र अनुसार [आत्मनः परस्य च] अपनी और परकी [स्थितिकरणं] स्थिरता [अपि] भी [कार्यम्] करनी चाहिए।

---

१ उपगूहनत्व—मोक्षमार्ग स्वयं तो शुद्ध ही है। उसकी अशक्त और अज्ञानी जीवोंके आश्रयसे उत्पन्न हुई निन्दाको दूर करना उपगूहन कहलाता है। (स्वसन्मुखताके बलसे शुद्धिकी वृद्धि करनेको उपबृंहण अङ्ग कहते हैं।) (रत्नकरण्डश्रावकाचार गाथा १५)

२. स्थितिकरणत्व—सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे चलायमान होने पर जीवोंको धर्मवत्सल विद्वानों द्वारा स्थिरीभूत करनेको स्थितिकरण अङ्ग कहते हैं। (गाथा १६ रत्नकरण्डश्रावकाचार)

टीका:—'कामक्रोधमदादिषु न्यायात् वर्त्मनः चलयितुं उदितेषु आत्मनः परस्य च श्रुतं युक्त्या स्थितिकरणं अपि कार्यम्' ।—मैथुनका भाव, क्रोधका, मानका भाव तथा आदि शब्दसे लोभादिकका भाव न्यायरूप धर्म मार्गसे भ्रष्ट करनेवाला है, अतः उनके प्रगट होने पर अपने को तथा अन्य जीवोंको शास्त्रानुसार युक्तिसे धर्ममें स्थिर करना भी श्रद्धावान पुरुषको योग्य है ।

भावार्थः—जो धर्मसे भ्रष्ट है उन्हें पुनः धर्ममें स्थापित करना स्थितिकरण है । और धर्मभ्रष्टता कामक्रोधादिके वशीभूत होने पर होती है । इसलिये जो इनके निमित्त से अपने परिणाम भ्रष्ट हों तो स्वयं युक्ति पूर्वक धर्ममें स्थिर होना चाहिये, और अन्य जीव भ्रष्ट हों तो उन्हें भी जैसे बने वैसे धर्ममे दृढ़ करना चाहिए ।।२८।।

७—[1]वात्सल्य अंग

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे ।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ।।२९।।

अन्वयार्थः—[शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने] मोक्षसुखरूप सम्पदाके कारणभूत [धर्मे] धर्ममें [अहिंसायां] अहिंसामें [च] और [सर्वेष्वपि] सभी [सधर्मिषु] साधर्मीजनोंमें [अनवरतं] निरन्तर [परमं] उत्कृष्ट [वात्सल्यं] वात्सल्य अथवा प्रीतिका [आलम्ब्यम्] आलम्बन करना चाहिये ।

टीका:—'शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने अहिंसायां धर्मे सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमंवात्सल्यं अनवरतं आलम्ब्यम्'—मोक्षसुखकी सम्पदाके कारणभूत हिंसारहित जिनप्रणीत धर्ममें तथा उस धर्मयुक्त सभी साधर्मियोमें उत्कृष्ट वात्सल्य निरंतर रखना चाहिए ।

भावार्थः—गोवत्स जैसी प्रीतिका नाम वात्सल्य है । जैसे बछड़ेकी प्रीतिसे गाय सिंहनीके सन्मुख चली जाती है और विचार करती है कि यदि मेरा भक्षण हो जाय और बछड़ेकी रक्षा हो जाय तो अत्युत्तम है । ऐसी प्रीति धर्म और धर्मात्माओके प्रति होनी चाहिए, जो तन मन धन सर्वस्व खर्च करके अपनी प्रीतिको पाले ।।२९।।

८—प्रभावना अंग

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दान तपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ।।३०।।

---

१ वात्सल्य-अपने साथके धर्मात्मा जीवोंका सच्चेभावसे कपट रहित यथायोग्य सत्कार करना ।

अन्वयार्थः—[सततमेव] निरंतर [रत्नत्रयतेजसा] रत्नत्रयके तेजसे [आत्मा] अपनी आत्माको [प्रभावनीयः] प्रभावनायुक्त करना चाहिए [च] और [दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः] दान, तप, जिनपूजन और विद्याके अतिशयसे अर्थात् इनकी वृद्धि करके [जिनधर्मः] जैनधर्मकी प्रभावना करना चाहिऐ।

टीकाः—'रत्नत्रयतेजसा सततं एव आत्मा प्रभावनीयः'—रत्नत्रयके तेजसे निरंतर अपनी आत्माको प्रभावनासंयुक्त करना चाहिए। और 'दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः जिनधर्मः प्रभावनीयः'—तथा दान, तप, जिनपूजा, विद्या, चमत्कारादिसे जैनधर्मकी [1]प्रभावना करना चाहिए।

भावार्थः—प्रभावना अर्थात् अत्यन्तपने प्रगट करना। अपने आत्माका अतिशय तो रत्नत्रयके प्रताप बढ़ने से प्रगट होता है और जैनधर्मका अतिशय प्रचुर दया-दानसे उग्रतप करके, बहुत धन खर्च करके भगवानकी पूजा करवाकर, शास्त्राभ्यास करके तथा निर्दोष देवादिके चमत्कारसे (जैन धर्मकी महिमा) प्रगट होता है अतः ऐसा अतिशय प्रगट करना चाहिए। इस प्रकार सम्यक्त्वके आठ अंगोंका वर्णन किया। यह आठ अंग किसी सम्यक्दृष्टिके सम्पूर्ण होते है, किसीके थोड़े होते हैं, किसीके गौणरूपसे तथा किसीके मुख्यरूपसे होते है। परन्तु सम्यक्त्वकी शोभा तो तभी होती है जब यह आठों अंग सम्पूर्ण मुख्यरूपसे प्रगट प्रत्यक्ष भासित हों। इस भाँति सम्यक्त्व अंगीकार करने के पश्चात् धर्मी गृहस्थको क्या करना चाहिये यह आगे कहेंगे ॥३०॥

इस प्रकार श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि विरचित पुरुषार्थसिद्धिउपाय, जिसका अपर नाम जिनप्रवचनरहस्यकोष है, में सम्यग्दर्शन वर्णन नामक प्रथम अधिकार समाप्त।

---

१ प्रभावना-(सर्वज्ञ वीतरागकथित विवेक पूर्वक) जैसे बने वैसे अज्ञानान्धकारके प्रसारको दूर करके जिन शासनके माहात्म्यका प्रकाश करना प्रभावना कहलाता है (रत्न० श्रावकाचार गा० १८)

सम्यग्ज्ञान अधिकार

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन ।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ॥३१॥
पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य ।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं सम्भवत्यनयोः ॥३२॥

अन्वयार्थः—[इति] इस प्रकार [आश्रितसम्यक्त्वैः] जिन्होंने सम्यक्त्वका आश्रय लिया है ऐसे [आत्महितैः] आत्महितकारी पुरुषोंको [नित्यं] सदैव [आम्नाययुक्तियोगैः] जिनागमकी परम्परा और युक्ति अर्थात् प्रमाण–नयके अनुयोगसे [निरूप्य] विचार करके [यत्नेन] प्रयत्नपूर्वक [सम्यग्ज्ञानं] सम्यग्ज्ञानका [समुपास्यं] भले प्रकारसे सेवन करना योग्य है, [दर्शनसहभाविनोऽपि] सम्यग्दर्शनके साथ ही उत्पन्न होने पर भी [बोधस्य] सम्यग्ज्ञानका [पृथगाराधनं] जुदा ही आराधन करना [इष्ट] कल्याण-कारी है, [यतः] कारण कि [अनयोः] इन दोनोंमें अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें [लक्षणभेदेन] लक्षणके भेदसे [नानात्वं] भिन्नता [संभवति] संभव है।

टीकाः—'इत्याश्रित सम्यक्त्वैः आत्महितैः च यत्नेन सम्यग्ज्ञानं समुपास्यम्' ।—इस प्रकार जिन्होंने सम्यक्त्व अगीकार किया है, ऐसे अपने आत्माका हित करनेवाले धर्मात्मा जीवोंको जिस तिस–उचित उपायसे सम्यग्ज्ञानका सेवन करना चाहिए ।

भावार्थः—सम्यक्त्वको अंगीकार करनेके बाद सम्यग्ज्ञानको अंगीकार करना 'किंकृत्य'—किस भाँति सेवन करना ? 'आम्नाययुक्तियोगैः निरूप्य'—आम्नाय अर्थात् जिनागमकी परम्परा और युक्ति अर्थात् प्रमाण–नयके अनुयोगसे भले प्रकार उस सम्यग्ज्ञानका विचार–निर्णय करके उसका सेवन करना ।

भावार्थः—जो पदार्थका स्वरूप जिनागमकी परम्परासे मिलता हो उसको प्रमाण और नयसे अपने उपयोगमें ठीक करके यथावत् जाननेको ही सम्यग्ज्ञानका सेवन करना कहा जाता है । उस प्रमाण–नयका स्वरूप किंचिन्मात्र लिखते है ।

प्रमाण–नयका संक्षिप्त स्वरूप

प्रमाण सम्यग्ज्ञानको कहते हैं वह प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है। प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं। जो ज्ञान केवल आत्माके ही आधीन होकर अपने विषयप्रमाण विशदतासे स्पष्ट जाने उसे **पारमार्थिक प्रत्यक्ष** कहते है। उसके भी दो भेद हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तो **एकदेश प्रत्यक्ष** हैं और केवलज्ञान **सर्व प्रत्यक्ष** है तथा जो नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा वर्णादिकको साक्षात् ग्रहण करे अर्थात् जाने उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। परमार्थसे यह जानना परोक्ष ही है, कारण कि स्पष्ट जानपना नही है। उसका उदाहरण:–जैसे आँखसे किसी वस्तुको सफेद जाना उसमें मलिनताका भी मिश्रण है। अमुक अंश श्वेत है और अमुक मलिन है ऐसा इसे स्पष्ट प्रतिभासित नही होता अत: यह व्यवहारमात्र प्रत्यक्ष है परन्तु आचार्य इसको परोक्ष ही कहते हैं। मतिज्ञान श्रुतज्ञानसे जो जानना होता है वह सभी परोक्ष है।

परोक्ष प्रमाणः—जो ज्ञान अपने विषयको स्पष्ट न जाने उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं। १ स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क, ४ अनुमान, ५ आगम यह पाँच भेद जानना।

१. स्मृतिः—पूर्वमें जिस पदार्थको जाना था उसे ही याद करके कालान्तरमें जान लेनेको स्मृति कहते हैं।

२. प्रत्यभिज्ञानः—जैसे पहले किसी पुरुषको देखा था फिर बादमें याद किया कि यह तो वही पुरुष है जिसे मैंने पहले देखा था। जो पहलेकी बात याद करके प्रत्यक्ष पदार्थका निश्चय करनेमें आये उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे पहले यह सुना था कि नील गाय नामक पशु गाय जैसा होता है वहाँ कदाचित वनमें नील गायको देखा तो यह बात याद आगई कि गाय जैसा नील गाय होता है ऐसा पहले सुना था वह नील गाय पशु यही है।

३. तर्कः—व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं। "इसके बिना यह नही" इसे व्याप्ति कहते हैं जिस तरह अग्निके बिना धुआं नही होता, आत्माके बिना चेतना नहीं होती। इस व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं।

४. अनुमानः—लक्षणके द्वारा पदार्थका निश्चय किया जाय उसे अनुमान कहते हैं। जैसे किसी पर्वतमेंसे धुआँ निकलता देखकर निश्चय करना कि यहाँ अग्नि है।

५. आगमः—आप्तके वचनके निमित्तसे पदार्थके जाननेको आगम कहते है। जैसे शास्त्रसे लोकका स्वरूप जानना। इस तरह परोक्षप्रमाणके पाँच भेद जानना।

नय

श्रुतज्ञानप्रमाणके अंशको नय कहते हैं। प्रमाणसे जो पदार्थ जाना था उसके एक धर्मको मुख्यतासे अनुभव कराये उसे नय कहते हैं। उसके दो भेद है। (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक) जो द्रव्यको मुख्य करके अनुभव कराये वह द्रव्यार्थिकनय है। उसके तीन भेद है।

१. नैगमः—सकल्प मात्रसे पदार्थके ग्रहण करने–जाननेको नैगम कहते है। जैसे कठौती बनानेके लिए कोई लकडी लेने जा रहा था, उससे किसीने पूछा कि "तुम कहाँ जाते हो ? तब उसने उत्तर दिया कि मैं कठौती लेने जाता हूँ। जहाँ वह जा रहा है वहाँ कठौती तो नही मिलेगी परन्तु उसके विचारमें है कि मैं लकड़ी लाकर कठौती बनाऊँगा।

२. संग्रहः—सामान्यरूपसे पदार्थोके ग्रहणको संग्रहनय कहते है। जैसे–छह जातिके समस्त द्रव्य **सत्ता लक्षण** संयुक्त है। इन छह द्रव्योके समूहको द्रव्य संज्ञा द्वारा जानना इस नयका प्रयोजन है।

३. व्यवहारनयः—सामान्यरूपसे जाने हुए द्रव्यके विशेष (भेद) करनेको व्यवहार कहते है। जैसे द्रव्यके छह भेद करना। इस प्रकार यह तीन भेद द्रव्यार्थिक-नयके बताए है।

पर्यायार्थिकनयके चार भेद हैं। जो वर्तमान पर्यायमात्रको जानता है उसे ऋजु-सूत्रनय कहते है। (व्याकरणादिके अनुसार शब्दकी अशुद्धताको दूर करना शब्दनय तथा पदार्थमें मुख्यतासे एक अर्थके आरूढ करनेको समभिरूढनय कहते है। जैसे "गच्छतीति गौः"के अनुसार 'जो चले वही गौ' होती है परन्तु यहाँ वैठी हुईको भी गौ कह देते है। तथा जो वर्तमान क्रिया जैसी हो उसीके अनुसार वैसा ही कहना एवंभूतनय है। जैसे चलती हुईको ही गौ कहना, सोती हुई, बैठी हुई को गौ न कहना। इस प्रकार नयके भेद जानना चाहिए।) इनमें शब्दनय, समभिरूढनय तथा एवंभूतनयको शब्दनय कहते है। (इस प्रमाण–नयके संयोगको युक्ति कहते हैं। "नयप्रमाणाभ्यां युक्तिः" इति वचनात्। यहाँ पर प्रमाण–नयका थोड़ासा कथन इसलिए

कर दिया है कि बिना प्रमाण-नयके पदार्थके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। "प्रमाणनयैरधिगमः"। (त० सूत्रजी अ० १-६)

जिस समय आत्माको सम्यग्दर्शन होता है उस समय मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो अवश्य होता ही है परन्तु इस सम्यग्ज्ञानको विशेषरूपसे जुदा आराधन करना योग्य है। किसलिए ? 'यतः लक्षणभेदेन अनयोः नानात्वं संभवति'। कारण कि लक्षण भेदसे इन दोनोमें भिन्नत्व सम्भव है। सम्यक्त्वका लक्षण यथार्थ श्रद्धान है और इसका (ज्ञानका) लक्षण यथार्थ जानना है इसलिए इसे जुदा कहा ॥३१-३२॥

आगे सम्यक्त्वके बाद ज्ञान कहनेका कारण बताते हैं:—

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३॥

अन्वयार्थः—[**जिनाः**] जिनेन्द्रदेव [**सम्यग्ज्ञानं**] सम्यग्ज्ञानको [**कार्यं**] कार्य और [**सम्यक्त्वं**] सम्यक्त्वको [**कारणं**] कारण [**वदन्ति**] कहते हैं, [**तस्मात्**] इसलिये [**सम्यक्त्वानन्तरं**] सम्यक्त्वके बाद तुरन्त ही [**ज्ञानाराधनं**] ज्ञानकी आराधना [**इष्टम्**] योग्य है।

टीकाः—'**जिनाः सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति**'—जिनदेव सम्यग्ज्ञानको कार्य कहते है और सम्यक्त्वको कारण कहते है।

भावार्थः—मतिज्ञान-श्रुतज्ञान पदार्थको तो जानते थे परन्तु सम्यक्त्वके बिना उनकी संज्ञा कुमति और कुश्रुतिज्ञान था। जिस समय सम्यक्त्व हुआ उसी समय उनकी संज्ञा मतिज्ञान-श्रुतज्ञान हुई। अतः ज्ञान तो था परन्तु सम्यक्पना तो सम्यक्त्वसे ही हुआ। इसलिए सम्यक्त्व तो कारणरूप है, सम्यग्ज्ञान कार्यरूप है। '**तस्मात् सम्यक्त्वानन्तरं ज्ञानाराधनं इष्टम्**'—इसलिए सम्यक्त्वके बाद ही ज्ञानाराधना योग्य है क्योंकि कारणसे ही कार्य होता है ॥३३॥

प्रश्नः—कारण-कार्य तो तब कहा जाये जब आगे-पीछे हो। यह तो दोनों युगपत् हैं फिर इनमे कारण-कार्यत्व किस तरह संभव है ? इसका उत्तर आगे कहते हैं।

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥३४॥

अन्वयार्थः—[हि] निश्चयसे [सम्यक्त्वज्ञानयोः] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों [समकालं] एक समयमें [जायमानयोः अपि] उत्पन्न होने पर भी [दीपप्रकाशयोः] दीपक और प्रकाशकी [इव] तरह [कारणकार्यविधानं] कारण और कार्यकी विधि [सुघटम्] भले प्रकार घटित होती है।

टीकाः—'हि सम्यक्त्वज्ञानयोः समकालं जायमानयोः अपि कार्यकारणविधानं सुघटम्'—निश्चयसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक ही समयमें उत्पन्न होते है, तो भी उनमें कारण-कार्यका प्रकार यथार्थरूपसे बनता है। किस दृष्टान्तसे ? 'दीपकप्रकाशयोः इव'—जिस प्रकार दीपक और प्रकाश एक ही समयमें प्रगट होते हैं तो भी दीपक प्रकाशका कारण है, प्रकाश कार्य है क्योंकि दीपकसे प्रकाश होता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानका कारण है, सम्यग्ज्ञान कार्य है, क्योकि सम्यक्त्वसे सम्यग्ज्ञान नाम पाता है ॥३४॥

आगे इस सम्यग्ज्ञानका लक्षण कहते हैंः—

कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेष तत्त्वेषु।
संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥३५॥

अन्वयार्थः—[सदनेकान्तात्मकेषु] प्रशस्त अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभाववाले [तत्त्वेषु] तत्त्वों अथवा पदार्थोंमें [अध्यवसायः] निर्णय [कर्त्तव्यः] करने योग्य है और [तत्] वह सम्यग्ज्ञान [संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तं] संशय, विपर्यय और विमोह रहित [आत्मरूपं] आत्माका निजस्वरूप है।

टीकाः—'सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु अध्यवसायः कर्त्तव्यः'—अनेकान्त है स्वभाव जिनका ऐसे पदार्थोका ज्ञानपूर्वक निर्णय करना योग्य है।

भावार्थः—पदार्थके स्वरूपको यथार्थ जाननेका नाम सम्यग्ज्ञान है। वह पदार्थ अनेकान्त स्वभावको धारण करते है। अनेक=बहुत, अन्त=धर्म। इस प्रकार अपने अनन्तधर्म-स्वभावको धारण करनेवालेका ज्ञान अवश्य करना चाहिए। जो सम्यक् प्रकारसे वस्तुको पहचानले तो करोड़ों कारण मिलने पर भी अश्रद्धानी न हो। 'तत् आत्मरूपं वर्तते'—यह सम्यग्ज्ञान आत्माका स्वरूप है। क्योकि जो यह सच्चा ज्ञान उत्पन्न हुआ है वह केवलज्ञानमें मिलकर शाश्वत रहेगा। कैसा है ज्ञान ? 'संशयविपर्य्यया-ध्यवसाय विविक्तम्'—संशय, विपर्यय, और विमोह-इन तीन भावोंसे रहित है।

संशयः—विरुद्ध दोतरफा ज्ञानको संशयज्ञान कहते हैं। जैसे रातमें किसीको देखकर सन्देह हुआ कि यह पदार्थ मनुष्य जैसा भी प्रतिभासित होता है और व्यन्तर जैसा भी प्रतिभासित होता है।

विपर्ययः—अन्यथा (विपरीत) रूप ऐकतरफा ज्ञानको विपर्ययज्ञान कहते हैं जैसे मनुष्यमें व्यन्तरकी प्रतीति कर लेना।

अनध्यवसायः—"कुछ है" इतना ही जानना हो, विशेष विचार न करे उसे अनध्यवसाय (विमोह) कहते हैं। जैसे गमन करते समय तृणके स्पर्शका ज्ञान होना। इन तीनो भावोंसे रहित यथार्थ ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यहाँ घटपटादि पदार्थोंके विशेष जाननेके निमित्त उद्यमी रहना नही बताया अपितु संसार-मोक्षके कारणभूत पदार्थोंको यथार्थ जाननेके लिए उद्यमी रहनेका उपदेश दिया है।

प्रश्नः—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिको जानपनेमें समानता होने पर भी एकका ज्ञान सम्यक् और दूसरेका मिथ्या क्यों कहलाता है।

उत्तरः—सम्यग्दृष्टिको मूलभूत जीवादि पदार्थोंका वास्तविक ज्ञान है इसलिए जितने उत्तर पदार्थ (विशेष-पदार्थ) जाननेमें आते है उन सबको यथार्थरूपसे साधता है अतः सम्यग्दृष्टिके ज्ञानको सम्यक्रूप कहा है। मिथ्यादृष्टिको मूलपदार्थोंका वास्तविक ज्ञान नही है इसलिए जितने उत्तर पदार्थ जाननेमें आते हैं उन सबको भी अयथार्थरूपसे साधता है अतः मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको मिथ्यारूप कहा गया है ।।३५।।

आगे इस सम्यग्ज्ञानके अष्ट अङ्ग कहते हैं—

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च ।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यं ।।३६।।

अन्वयार्थः—[ग्रन्थार्थोभयपूर्णं] ग्रन्थरूप (शब्दरूप) अर्थरूप और उभय अर्थात् शब्द अर्थरूप शुद्धतासे परिपूर्ण [काले] कालमें अर्थात् अध्ययनकालमें आराधन करने योग्य [विनयेन] मन, वचन, कायकी शुद्धतारूप विनय [च] और [सोपधानं] धारणा-युक्त [बहुमानेन] अत्यन्त सन्मानसे अर्थात् देव-गुरु-शास्त्रके वन्दन, नमस्कारादि [समन्वितं] सहित तथा [अनिह्नवं] विद्यागुरुको छिपाये विना [ज्ञानं] ज्ञानकी [आराध्यम्] आराधना करना योग्य है।

टीकाः—'ज्ञानं आराध्यम्'—श्रद्धावान पुरुषोंको सम्यग्ज्ञान आराधन करने योग्य है। कैसा है ज्ञान ? 'ग्रन्थार्थोभयपूर्ण'—शब्दरूप है, अर्थरूप है और उभयसे पूर्ण है।

भावार्थः—१. व्यंजनाचार—जहाँ मात्र शब्दके पाठका ही जानपना हो उसे व्यंजनाचारअङ्ग कहते है।

२. अर्थाचार—जहाँ केवल अर्थमात्रके प्रयोजन सहित जानपना हो उसे अर्थाचार कहते है।

३. उभयाचार—जहाँ शब्द और अर्थ दोनोंमें सम्पूर्ण जानपना हो उसे शब्दार्थ उभयपूर्ण अङ्ग कहते है। इस प्रकार यह तीन अङ्ग वर्णन किए। अब ज्ञानकी आराधना कब करे ?

४. कालाचार—काले=जिस काल जिस ज्ञानका विचार चाहिए वही करना (सूर्योदय, सूर्यास्त, मध्याह्न और मध्यरात्रि, इनके पहले और पीछेका मुहूर्त्त सन्ध्या-काल है, इस कालको छोड़कर शेषके चार उत्तम कालोंमें पठन–पाठनादिरूप स्वाध्याय करनेको कालाचार कहते हैं। चारों सन्ध्याकालकी प्रथम तथा अन्तिम दो घड़ीमें, तथा दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्रधनुष, सूर्य–चन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्प आदि उत्पातोंके कालमें सिद्धान्त ग्रन्थोंका पठन–पाठन वर्जित है। हाँ, स्तोत्र–आराधना, धर्म कथादिकके ग्रन्थ पढ़ सकते है।)

५. विनयाचार—तथा किस रीतिसे ज्ञानाराधन करना ? विनयेन=नम्रतायुक्त होना, उद्धत नहीं होना।

६. उपधानाचार—तथा कैसा ज्ञान आराधना चाहिए ? सोपधानं=धारणा सहित ज्ञानको भूलना नही; उपधान सहित ज्ञानका आराधन करना छठा अङ्ग है।

७. बहुमानाचार—तथा कैसा है ज्ञान ? "बहुमानेन समन्वितम्"=ज्ञानका पुस्तक–शास्त्रका, अथवा पढानेवालेका बहुत आदर करना। इन सहित ज्ञानका आराधन करना सप्तम अङ्ग है।

८. अनिह्नवाचार—तथा कैसा है ज्ञान ? "अनिह्नवं"=जिस शास्त्र अथवा गुरुसे अपनेको ज्ञान हुआ हो, उसे छिपाना नही चाहिए। यह आठ अङ्ग (सम्यग्ज्ञानके विनयके) हैं। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान अंगीकार करना ॥३६॥

इति श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि विरचित पुरुषार्थ सिद्धि–उपाय जिसका अपरनाम जिनप्रवचन रहस्य कोष है उसमें सम्यग्ज्ञान वर्णन नामका दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

सम्यक्चारित्र व्याख्यान

सम्यग्ज्ञान अंगीकार करनेके पश्चात् धर्मात्मा पुरुषोंको क्या करना चाहिए वही कहते हैं।

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥३७॥

अन्वयार्थः—[विगलितदर्शनमोहैः] जिन्होंने दर्शनमोहका नाश कर दिया है [समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः] सम्यग्ज्ञानसे जिन्होंने तत्त्वार्थको जाना है [नित्यमपि निःप्रकम्पैः] जो सदाकाल अकम्प अर्थात् दृढ़चित्तवाले हैं ऐसे पुरुषों द्वारा [सम्यक्चारित्रं] सम्यक्चारित्र [आलम्ब्यम्] अवलम्बन करने योग्य है।

टीकाः—'सम्यक्चारित्रं आलम्ब्यम्'—सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए। कैसे जीवोंको सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए? 'विगलितदर्शनमोहैः'—जिनके दर्शनमोहका नाश हुआ है और दर्शनमोहके नाश होनेसे जो तत्त्वश्रद्धानी हुए हैं। तथा कैसे हैं? 'समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः'—जिन्होंने सम्यग्ज्ञानसे तत्त्वार्थ जाना है। तथा कैसे है? 'नित्यमपि निःप्रकम्पैः'—धारण किए गए आचरणमें निरन्तर निष्कम्प हैं। जो किसी भी प्रकार ग्रहण किए हुए आचरणको नही छोड़ते, ऐसे जीवोंको सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए।

भावार्थः—पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करके सम्यग्ज्ञानी हो, तत्पश्चात् निश्चलवृत्ति धारण करके सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए ॥३७॥

आगे सम्यग्ज्ञानके बाद ही सम्यक्चारित्र अंगीकार करनेका कारण कहते हैं—

न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥३८॥

अन्वयार्थः—[अज्ञानपूर्वकंचरित्रं] अज्ञान सहित चारित्र [सम्यग्व्यपदेशं] सम्यक् नाम [न हि लभते] प्राप्त नहीं करता [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानानन्तरं] सम्यग्ज्ञानके पश्चात् ही [चारित्राराधनं] चारित्रका आराधन [उक्तम्] कहा गया है।

टीका:—'अज्ञानपूर्वकं चारित्रं सम्यग्व्यपदेशं न हि लभते'—जिसके पूर्वमें अज्ञानभाव है ऐसा चारित्र सम्यक् संज्ञाको प्राप्त नहीं होता। प्रथम यदि सम्यग्ज्ञान न हो और पापक्रियाका त्याग करके चारित्रभार धारण करे तो उस चारित्रको सम्यक्त्वता प्राप्त नही होती। जैसे बिना जाने औषधिका सेवन करे तो मरण ही हो, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान रहित चारित्रका सेवन करना संसारको बढ़ाता है। जीव रहित मृत शरीरमें इन्द्रियोके आकार किस कामके? उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान शून्य शरीरके वेष या क्रियाकाण्डके साधनसे शुद्धोपयोगकी प्राप्ति नहीं होती। 'तस्मात् ज्ञानानन्तरं चारित्राराधनं उक्तम्' अत: सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् ही चारित्रका आराधन करना कहा है ॥३८॥

चारित्रका लक्षण

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥३९॥

अन्वयार्थः—[यतः] कारण कि [तत्] वह [चारित्रं] चारित्र [समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्] समस्त पापयुक्त मन, वचन, कायके योगके त्यागसे [सकलकषायविमुक्तं] सम्पूर्ण कषाय रहित [विशदं] निर्मल [उदासीनं] परपदार्थोसे विरक्ततारूप और [आत्मरूपं] आत्मस्वरूप [भवति] होता है।

टीका:—'यतः समस्त सावद्ययोगपरिहरणात् चारित्रं भवति'—समस्त पापसहित मन, वचन, कायके योगको त्याग करनेसे चारित्र होता है। मुनि पहले सामायिक चारित्र अंगीकार करता है तब ऐसी प्रतिज्ञा करता है, 'अहं सर्वसावद्ययोगविरतोऽस्मि'—मैं सर्व पापसहित योगोंका त्यागी हूँ। कैसा है चारित्र? 'सकलकषायविमुक्तम्'—समस्त कषायोसे रहित है। समस्त कषायोका अभाव होने पर यथाख्यात चारित्र होता है। तथा कैसा है? 'विशदम्'—निर्मल है। आत्म सरोवर कषायरूपी कीचड़से मैला था, कषायके अभाव होने पर सहज ही निर्मलता हो गई। तथा कैसा है? 'उदासीनम्'—परद्रव्यसे विरक्त स्वरूप है। 'तत् आत्मरूपं वर्तते'—वह चारित्र आत्माका स्वरूप है। कषायरहित जो आत्माका स्वरूप प्रगट हुआ है वही सदाकाल रहेगा, इस अपेक्षासे आत्माका स्वरूप है, नवीन आवरण कभी भी होगा नहीं। सामायिक चारित्रमें सकलचारित्र हुआ परन्तु संज्वलन कषायके सद्भावसे मलिनता नही गई, इसलिये जब सकल कषायरहित हुआ तब यथाख्यात नाम पाया, जैसा चारित्रका स्वरूप था वैसा प्रगट हुआ।

प्रश्नः—शुभोपयोगरूप भाव है वह चारित्र है या नहीं ?

उत्तरः—शुभोपयोग विशुद्ध परिणामोंसे होता है और विशुद्धता मन्दकषायको कहते हैं इसलिए कषायोंकी हीनताके कारण कथंचित् चारित्र कहलाता है।

प्रश्नः—देव–गुरु–शास्त्र, शील, तप, संयमादिमें अत्यन्त रागरूप प्रवर्तन करते हुए भी उसे मन्दकषाय कैसे कह सकते हैं।

उत्तरः—विषय–कषायादिकके रागकी अपेक्षा तो वह मन्द कषाय ही है। क्योंकि उनके रागमें क्रोध, मान, माया तो है ही नहीं, अब रहा प्रीतिभावकी अपेक्षा लोभकषाय, किन्तु वह भी सांसारिक प्रयोजनयुक्त नहीं है अतः उसकी भी मन्दता है। यहाँ भी ज्ञानी जीव रागभावसे प्रेरित होता हुआ अशुभ रागको छोड़कर शुभ रागमें प्रवर्तन करता है किन्तु उस शुभरागको उपादेयरूप श्रद्धान नहीं करता अपितु उसे अपने शुद्धोपयोगरूप चारित्रके लिए मलिनताका ही कारण जानता है। अशुभोपयोगमें तो कषायोंकी तीव्रता हुई है अतः वह तो किसी भी प्रकार चारित्र संज्ञाको प्राप्त नही हो सकता ॥३९॥

चारित्रके भेद

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४०॥

अन्वयार्थः—[हिंसातः] हिंसासे [अनृतवचनात्] असत्य भाषणसे [स्तेयात्] चोरीसे [अब्रह्मतः] कुशीलसे और [परिग्रहतः] परिग्रहसे [कात्स्न्यैकदेशविरते] सर्वदेश और एकदेश त्यागसे वह [चारित्रं] चारित्र [द्विविधम्] दो प्रकारका [जायते] होता है।

टीकाः—'चारित्रं द्विविधं जायते'—चारित्र दो प्रकारसे उत्पन्न होता है। किस प्रकारसे ? 'हिंसातः, अनृतवचनात्, स्तेयात्, अब्रह्मतः, परिग्रहतः, कात्स्न्यैकदेशविरतेः'—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहके सर्वदेश तथा एकदेश त्यागसे चारित्रके दो भेद हैं।

भावार्थ—हिंसादिकका वर्णन आगे किया जा रहा है इनके सर्वथा त्यागको सकलचारित्र और एकदेश त्यागको देशचारित्र कहते हैं ॥४०॥

आगे इन दोनों प्रकारके चारित्रोंके स्वामीको बताते हैं—

निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

अन्वयार्थः—[कार्त्स्न्यनिवृत्तौ] सर्वथा–सर्वदेश त्यागमें [निरतः] लीन [अयं यतिः] यह मुनि [समयसारभूतः] शुद्धोपयोगरूप स्वरूपमें आचरण करनेवाला [भवति] होता है [या तु एकदेशविरतिः] और जो एकदेशविरति है [तस्यां निरतः] उसमें लगा हुआ [उपासकः] उपासक अर्थात् श्रावक [भवति] होता है ।

टीकाः—'कार्त्स्न्यनिवृत्तौ निरतः अयं यतिः भवति'—(जिसके अन्तरङ्गमें तो तीन कषायरहित शुद्धिका बल है तथा) पाँच पापके सर्वथा–सर्वदेश त्यागमें जो जीव लगा है वह मुनि है । 'अयं समयसारभूतः'—यह मुनि शुद्धोपयोगरूप शुद्धात्मास्वरूप ही है । मुनि तो शुद्धोपयोगस्वरूप ही होता है, जो शुभोपयोगरूप भाव है वह भी इस मुनिकी पदवीमें कालिमा समान है । 'तु एकदेशविरतिः तस्यां निरतः उपासकः भवति'—जो पाँच पापके कथंचित् एकदेश त्यागमें लगा हुआ जीव है वह श्रावक है ।

भावार्थः—सकलचारित्रका स्वामी तो मुनि है और देशचारित्रका स्वामी श्रावक है ॥४१॥

आगे कहते हैं कि पाँच पाप एक हिंसा स्वरूप ही हैः—

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥

अन्वयार्थः—[आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्] आत्माके शुद्धोपयोगरूप परिणामोंके घात होनेके कारण [एतत्सर्वं] यह सब [हिंसैव] हिंसा ही है । [अनृतवचनादि] असत्य वचनादिकके भेद [केवलं] केवल [शिष्यबोधाय] शिष्योंको समझानेके लिए [उदाहृतम्] उदाहरणरूप कहे गए हैं ।

टीकाः—'सर्वं एतत् हिंसा एव'—यह समस्त पाँचों पाप हिंसा ही है । किसलिए ? 'आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्'—आत्माके शुद्धोपयोगरूप परिणामोंके घातके कारण हैं अतः यह सर्व हिंसा ही है ।

प्रश्नः—यदि हिंसा ही है तो अन्य भेद क्यों कहे गए ?

उत्तरः—'अनृतवचनादि केवलं शिष्यबोधाय उदाहृतम्'—अनृतवचनादिके भेद मात्र शिष्यको समझानेके लिए उदाहरणरूपसे कहे गए है। जो शिष्य हिंसाके विशेषको न जाने तो उसके लिये हिंसाके उदाहरण अनृतवचनादि कहे गए है। हिंसाका एक भेद अनृतवचन है, एक चोरी है—इस भाँति उदाहरणरूप जानना ॥४२॥

आगे हिंसाका स्वरूप कहते हैं:—

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥

अन्वयार्थः—[कषाययोगात्] कषायरूपसे परिणमित मन, वचन, कायके योगसे [यत्] जो [द्रव्यभावरूपाणाम्] द्रव्य और भावरूप दो प्रकारके [प्राणानां] प्राणोंका [व्यपरोपणस्य करणं] व्यपरोपण करना—घात करना [सा] वह [खलु] निश्चयसे [सुनिश्चिता] भलीभाँति निश्चित की गई [हिंसा] हिसा [भवति] है।

टीकाः—'खलु कषाययोगात् यत् द्रव्यभावरूपाणां प्राणानां व्यपरोपणस्यकरणं सा सुनिश्चिता हिंसा भवति'—निश्चयसे कषायरूप परिणमित हुए मन, वचन, कायके योगके हेतुसे द्रव्यभावरूप दो प्रकारके प्राणोंको पीड़न करना—घात करना निश्चयसे हिंसा है।

भावार्थः—अपने मनमें, वचनमें या शरीरमें क्रोध–कषाय प्रगट होने पर प्रथम तो अपने शुद्धोपयोगरूप भावप्राणका घात हुआ। यह हिंसा तो अपने भावप्राणके व्यपरोपण होनेके कारण पहले ही हो गई, दूसरी हिंसा तो होवे अथवा न भी होवे। पश्चात् कदाचित् तीव्रकषायरूप होने पर अपने दीर्घश्वासादिकसे अथवा हाथ–पैरसे अपने अंगको पीड़ा उत्पन्न करे या अपघात करके मर जाय तो इसमे अपने द्रव्यप्राणके घातरूप हिसा हुई। अथवा यदि कषायसे अन्यजीवको कुवचन कहा, मर्मभेदी हास्य किया, या ऐसा कार्य किया जिससे उसका अन्तरंग पीड़ित होकर कषायरूप परिणाम हो जायें तो परके भावप्राणके व्यपरोपणसे हिंसा होती है। जहाँ कषायके वशीभूत होकर प्रमादी हुआ, अन्य जीवके शरीरको पीड़ा पहुँचाई, अथवा प्राणनाश किया वहाँ परके द्रव्यप्राणके घातसे हिंसा हुई। इस प्रकार हिंसाका स्वरूप कहा ॥४३॥

आगे हिंसा और अहिंसाका निश्चयसे लक्षण वर्णन करते हैं:—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

अन्वयार्थः—[खलु] निश्चयसे [रागादीनां] रागादि भावोंका [अप्रादुर्भावः] प्रगट न होना [इति] यही [अहिंसा] अहिंसा [भवति] है और [तेषामेव] उन रागादि भावोंका [उत्पत्तिः] उत्पन्न होना ही [हिंसा] हिंसा [भवति] है, [इति] ऐसा [जिनागमस्य] जैन सिद्धान्तका [संक्षेपः] सार है।

टीकाः—'खलु रागादीनां अप्रादुर्भावः इति अहिंसा भवति'—निश्चयसे रागादि भावोंकी उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है।

भावार्थः—अपने शुद्धोपयोगरूप प्राणोंका घात रागादि भावोंसे होता है इसलिए रागादि भावोंका अभाव होना ही अहिंसा है। आदि शब्दसे द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, जुगुप्सा, प्रमादादि समस्त विभावभाव जानना चाहिए। इनके लक्षण कहते है। अपनेको कोई (पदार्थ) इष्ट जानकर प्रीतिरूप परिणामका होना राग है, अपनेको अनिष्ट जानकर अप्रीतिरूप परिणामका होना द्वेष है, परद्रव्यमें ममत्वरूप परिणाम होना मोह है, मैथुनरूप परिणाम काम है, इसने अनुचित किया ऐसा जानकर परको दुःखदायक परिणाम क्रोध है, दूसरेसे अपनेको बड़ा मानना मान है, मन–वचन–कायमें एकताका अभाव माया है, परद्रव्यके साथ सम्बन्ध करनेकी इच्छारूप परिणाम लोभ है, भली–बुरी चेष्टा देखकर विकसितरूप परिणाम हास्य है, अपनेको दुखदायक जानकर डररूप परिणाम भय है, अपने इष्टका अभाव होनें पर आर्तरूप परिणाम शोक है, ग्लानिरूप परिणाम जुगुप्सा है, कल्याणकारी कार्यमें अनादर करना प्रमाद है,—इत्यादि समस्त विभावभाव हिंसाकी पर्याय है। इनका न होना ही अहिंसा है। 'तेषामेव उत्पत्तिः हिंसा'—उन रागादिभावोंका उत्पन्न होना ही हिंसा है, 'इति जिनागमस्य संक्षेपः'—ऐसा जैन सिद्धान्तका रहस्य है।

भावार्थः—जैन सिद्धान्तका विस्तार तो बहुत है परन्तु सर्वका रहस्य संक्षेपमें इतना ही है कि धर्मका लक्षण अहिंसा—रागादि भावोंका अभाव होना वही अहिंसा। इसलिए जैसे बन सके वैसे तथा जितना बन सके उतना (–स्वसन्मुखताद्वारा) रागादि भावोंका नाश करना चाहिए। वही अन्य ग्रन्थोंमें कहा है—रागादीणामणुप्पा अहिंसा गत्तति देसिदं समये। ते सिंचे दुप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठं।

प्रश्नः—हिंसाका लक्षण पर जीवके प्राणोंको पीड़ा पहुँचाना क्यों नही कहा ?

उत्तरः—इस लक्षणमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोष लगते हैं ॥४४॥

वहाँ प्रथम ही अतिव्याप्ति दोष बताते हैं:—

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥

अन्वयार्थः—[अपि] और [युक्ताचरणस्य] योग्य आचरणवाले [सतः] सन्त पुरुषके [रागाद्यावेशमन्तरेण] रागादि भावोके विना [प्राणव्यपरोपणात्] केवल प्राण पीड़नसे [हिंसा] हिंसा [जातु एव] कभी भी [न हि] नही [भवति] होती ।

टीकाः—'अपि युक्ताचरणस्य सतः रागाद्यावेशमन्तरेण प्राणव्यपरोपणात् एव जातु हिंसा न हि भवति'—निश्चयसे जिनका आचरण योग्य प्रयत्न पूर्वक है, ऐसे सन्त पुरुषोंको, रागादि भावोंके प्रवेश बिना, केवल पर जीवके प्राणपीड़न करने मात्रसे ही कदाचित् हिंसा नहीं होती ।

भावार्थः—महापुरुष ध्यानमें लीन है अथवा गमनादिमें सावधानीसे यत्नपूर्वक प्रवर्तन कर रहे है और कदाचित् इनके शरीरके सम्बन्धसे किसी जीवके प्राणोंको पीड़ा पहुँच गई तो भी इनके हिंसाका दोष नहीं है । कारण कि इसके परिणाममें कषाय नहीं था इसलिए पर जीवके प्राणको पीड़ा होने पर भी हिंसा नही कहलाती । अतः अतिव्याप्ति दोष लगता है ॥४५॥

आगे अव्याप्ति दोष बताते हैं:—

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६॥

अन्वयार्थः—[रागादीनां] रागादि भावोंके [वशप्रवृत्तायाम्] वशमें प्रवर्तती हुई [व्युत्थानावस्थायां] अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्थामें [जीवः] जीव [म्रियतां] मरो [वा] अथवा [मा 'म्रियतां'] मत मरो [हिंसा] हिंसा तो [ध्रुवं] निश्चयसे [अग्रे] आगे ही [धावति] दौड़ती है ।

टीकाः—'रागादीनां वशप्रवृत्तायां व्युत्थानावस्थायां जीवः म्रियतां वा मा म्रियतां हिंसा अग्रे ध्रुवं धावति'—रागादि प्रमादभावोंके वशीभूत होकर उठने बैठने आदिरूप क्रियामे जीव मरे अथवा न मरे किन्तु हिंसा तो निश्चयसे आगे दौड़ती है ।

भावार्थः—जो प्रमादी जीव कषायके वश होकर गमनादि क्रियामें यत्नरूप प्रवर्तन नही करते अथवा उठते-बैठते क्रोधादि भावरूप परिणमन करते है तो वहाँ जीव

कदाचित् मरे या न मरे परन्तु इसे तो कषायभावसे अवश्य हिंसाका दोष लगता है। अर्थात् पर जीवके प्राणको पीड़ा न होते हुए भी प्रमादके सद्भावसे हिंसा कही जाती है। इसलिए उस लक्षणमें अव्याप्ति दोष लगता है ॥४६॥

प्रश्नः—हिंसाका अर्थ तो घात करना है, पर जीवके प्राणका घात किए विना हिंसा कैसे कही जा सकती है?

उसका उत्तर आगे कहते हैंः—

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥४७॥

अन्वयार्थः—[यस्मात्] कारण कि [आत्मा] जीव [सकषायः सन्] कषायभाव युक्त होनेसे [प्रथमं] प्रथम [आत्मना] अपनेसे ही [आत्मानं] अपनेको [हन्ति] घात करता है [तु] और [पश्चात्] पीछेसे भले ही [प्राण्यन्तराणां] दूसरे जीवोंकी [हिंसा] हिंसा [जायेत] हो [वा] अथवा [न] न हो।

टीकाः—'यस्मात् सकषायः सन् आत्मा प्रथमं आत्मना आत्मानं हन्ति तु पश्चात् प्राण्यन्तराणां हिंसा जायेत वा न जायेत'—कारण कि कषायभावयुक्त हुआ आत्मा पहले अपने द्वारा ही अपना घात करता है, पश्चात् अन्य प्राणी-जीवोंका घात हो अथवा न हो।

भावार्थः—हिंसा तो घातको ही कहते है, परन्तु घात दो प्रकारका है। एक आत्मघात, दूसरा परघात। जब इस आत्माने कषाय भावोसे परिणमन करके अपना बुरा किया तब आत्मघात तो पहले ही हो गया, तत्पश्चात् अन्य जीवका आयुष्य पूरा हो गया हो अथवा पापका उदय हो तो उसका भी घात हो जाये। तूं उसका घात तो नही कर सकता, कारण कि उसका घात तो उसके कर्माधीन है, इसके तो अपने भावोंका दोष है। इस प्रकार प्रमादसहित योगमें आत्मघातकी अपेक्षा तो हिंसा हो ही गई ॥४७॥

अब परघातकी अपेक्षा भी हिंसाका सद्भाव बताते हैंः—

हिंसायाअविरमणं हिंसा परिणमनपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥४८॥

अन्वयार्थः—[हिंसायाः] हिसासे [अविरमणं] विरक्त न होनेसे [हिंसा] हिंसा होती है और [हिंसापरिणमनं] हिंसारूप परिणमन करनेसे [अपि] भी [हिंसा]

हिंसा [भवति] होती है [तस्मात्] इसलिये [प्रमत्तयोगे] प्रमादके योगमें [नित्यं] निरन्तर [प्राणव्यपरोपणं] प्राणघातका सद्भाव है ।

टीका:—'हिंसाया अविरमणं हिंसा परिणमनं अपि भवति हिंसा'—हिंसाके त्यागभावका अभाव हिंसा है और हिंसारूप परिणमन करनेसे भी हिंसा होती है ।

भावार्थ:—परजीवके घातरूप हिंसा दो प्रकार की है । एक अविरमणरूप और एक परिणमनरूप ।

१. अविरमणरूप:—हिंसा–जिस काल जीव परजीवके घातमें तो प्रवर्तन न कर रहा हो अपितु किसी अन्य कार्यमें प्रवर्त्त रहा हो परन्तु हिंसाका त्याग न किया हो । उसका उदाहरण:—जैसे किसीके हरितकायका त्याग नही है और वह किसी समय हरितकायका भक्षण भी नही करता है, वैसे ही किसीके हिंसाका त्याग तो नहीं है और वह किसी समय हिंसामें प्रवर्तन भी नही करता परन्तु अन्तरङ्गमें हिंसा करनेके अस्तित्वभावका नाश नही किया, इसको अविरमणरूप हिंसा कहते हैं ।

२. परिणमनरूप हिंसा:—जिस समय जीव परजीवके घातमें मनसे, वचनसे अथवा कायसे प्रवर्तन करे उसे परिणमनरूप हिंसा कहते है । यह दो भेद हिंसाके कहे । इन दोनों भेदोंमें प्रमाद सहित योगका अस्तित्व है । 'तस्मात् प्रमत्तयोगे नित्यं प्राणव्यपरोपणं'—इसलिए प्रमाद सहित योगमें सदाकाल परजीवकी अपेक्षा भी प्राणघातका सद्भाव आया । इसका अभाव तो तभी हो सकता है जब यह जीव परहिंसाका त्याग करके प्रमादरूप न परिणमे । जबतक प्रमाद पाया जाता है तबतक हिंसाका अभाव तो किसी भी प्रकार नही हो सकता ।।४८।।

प्रश्न:—जो प्रमादरूप अपने परिणामोंसे ही हिंसा उत्पन्न होती है तो बाह्य परिग्रहादिका त्याग किसलिए कराया जाता है ? उसका उत्तर आगे कहते हैं:—

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः ।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ।।४९।।

अन्वयार्थ:—[खलु] निश्चयसे [पुंसः] आत्माके [परवस्तुनिबन्धना] परवस्तुके कारणसे जो उत्पन्न हो ऐसी [सूक्ष्महिंसा अपि] सूक्ष्म हिंसा भी [न भवति] नहीं होती [तदपि] तो भी [परिणामविशुद्धये] परिणामोंकी निर्मलताके लिए [हिंसायतननिवृत्तिः] हिंसाके स्थानरूप परिग्रहादिका त्याग [कार्या] करना उचित है ।

टीका:—'खलु पुंसः परवस्तुनिबन्धना सूक्ष्मापि हिंसा न भवति'—निश्चयसे आत्माके परवस्तुके कारणसे उत्पन्न हो ऐसी रंचमात्र भी हिंसा नही होती।

भावार्थ:—परिणामोंकी अशुद्धताके बिना परवस्तुके निमित्तसे अंशमात्र भी हिंसाका दोष नहीं लगता। यद्यपि निश्चयसे तो ऐसे ही है, 'तदपि परिणामविशुद्धये हिंसायतननिवृत्तिः कार्या'—तथापि परिणामोंकी निर्मलताके लिए हिंसाके स्थानरूप परिग्रहादिका त्याग अवश्य करना चाहिए।

भावार्थ:—जो परिणाम होता है वह किसी वस्तुका अवलम्बन पाकरके ही होता है। जो सुभटकी माताके सुभट पुत्र विद्यमान हो तब तो ऐसे परिणाम होते हैं कि 'मैं सुभटको मारूँ,' परन्तु जो बाँझ है और जिसके पुत्र ही नहीं है तो ऐसे परिणाम कैसे उत्पन्न हो सकते हैं कि मैं बन्ध्याके पुत्रको मारूँ। इसलिए यदि बाह्य परिग्रहादिका निमित्त हो तब तो उनका अवलम्बन पाकर कषायरूप परिणाम होते है परन्तु यदि परिग्रहादिका त्याग कर दिया हो तब निमित्त बिना, अवलम्बन बिना किस तरह परिणाम उत्पन्न हों? अतः अपने परिणामोंकी शुद्धताके लिए बाह्यकारणरूप परिग्रहादिका त्याग भी करना चाहिए ।।४९।।

आगे एक पक्षवालेका निषेध करते हैं:—

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः ।।५०।।

अन्वयार्थ:—[यः] जो जीव [निश्चयं] यथार्थ निश्चय स्वरूपको [अबुध्यमानः] न जानकर [तमेव] उसे ही [निश्चयतः] निश्चय श्रद्धासे [संश्रयते] अंगीकार करता है [स] वह [बालः] मूर्ख [बहिः करणालसः] बाह्य क्रियामें आलसी है और [करणचरणं] बाह्यक्रियारूप आचरणका [नाशयति] नाश करता है।

टीका:—'यः निश्चयं अबुध्यमानः निश्चयतः तमेव संश्रयते सः बालः करणचरणं नाशयति'—जो जीव यथार्थ निश्चयके स्वरूपको तो जानते नही और बिना जाने मात्र निश्चयके श्रद्धानसे अन्तरंगको ही हिंसा जानकर अंगीकार करते हैं वे अज्ञानी दयाके आचरणको नष्ट करते है।

भावार्थ:—जो कोई केवल निश्चयका श्रद्धानी होकर यह कहता है कि यदि मैं परिग्रहादि रखूँ अथवा भ्रष्टाचाररूप प्रवर्त्तन करूँ तो इससे क्या हुआ? मेरे परिणाम

ठीक होना चाहिए। ऐसा कहकर जो स्वच्छन्द प्रवर्तन करता है उस जीवने दयाके आचरणका नाश किया, वह बाह्यमें तो निर्दय हुआ ही तथा अन्तरंग निमित्त पाकर परिणाम अशुद्ध होते ही होते हैं इसलिए अन्तरंगकी अपेक्षा भी निर्दय हुआ। कैसा है वह जीव? बाह्य द्रव्यरूप अन्य जीवकी दयामे आलसी है, प्रमादी है। अथवा इसी सूत्रका अन्य प्रकारसे भी अर्थ करते हैं। '**यः निश्चयं अबुध्यमानः तमेव निश्चयतः संश्रयते सः बालः करुणा आचरणं नाशयति**'—जो जीव निश्चयके स्वरूपको न जानकर व्यवहाररूप बाह्य परिग्रहादिके त्यागको ही निश्चयसे मोक्षमार्ग जानकर अंगीकार करता है वह जीव शुद्धोपयोगरूप आत्माकी दयाका नाश करता है।

भावार्थः—जो जीव निश्चयनयके स्वरूपको तो जानता नही और केवल व्यवहार-मात्र बाह्य परिग्रहादिका त्याग करता है, उपवासादिकको अंगीकार करता है, इस प्रमाण बाह्य वस्तुमें हेय–उपादेय बुद्धिसे प्रवर्त्तन करता है, वह जीव अपने स्वरूप अनुभवरूप शुद्धोपयोगमय अहिंसा धर्मका नाश करता है। कैसा है वह जीव? '**बहिः करुणालसः**' उद्यमसे उसने अशुभोपयोगका तो त्याग किया है, परन्तु बाह्य परजीवकी दयारूप धर्मके साधनमें ही आलसी होकर बैठ रहा, और शुद्धोपयोग भूमिकामें चढ़नेका उद्यम नहीं करता। इस प्रकार एकान्तपक्षवालेका निषेध किया। आगे द्रव्यहिंसा और भावहिंसाकी अपेक्षासे भिन्न भिन्न प्रकारके भंग बताते है।

उसके आठ सूत्र कहते हैं:—

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥५१॥

अन्वयार्थः—[**हि**] निश्चयसे [**एकः**] एक जीव [**हिंसा**] हिंसा [**अविधाय अपि**] न करते हुए भी [**हिंसाफलभाजनं**] हिंसाके फलको भोगनेका पात्र [**भवति**] बनता है और [**अपरः**] दूसरा [**हिंसा कृत्वा अपि**] हिंसा करके भी [**हिंसाफलभाजनं**] हिंसाके फलको भोगनेका पात्र [**न स्यात्**] नहीं होता।

टीकाः—'**हि एकः हिंसा अविधाय अपि हिंसाफलभाजनं भवति**'—निश्चयसे कोई एक जीव हिंसा न करने पर भी हिंसाके फलको भोगनेका पात्र बनता है।

भावार्थः—किसी जीवने बाह्य हिंसा तो नही की है परन्तु प्रमादभावरूपसे परिणमन किया है इस कारण वह जीव उदयकालमें हिंसाके फलको भोगता है। '**अपरः**

हिंसा कृत्वा अपि हिंसाफलभाजनं न स्यात्'—दूसरा कोई जीव हिंसा करके भी हिंसाके फलको भोगनेका पात्र नहीं होता।

भावार्थः—किसी जीवने शरीर सम्बन्धसे बाह्य हिंसा तो उत्पन्न की है परन्तु प्रमादभावरूप परिणमन नहीं किया अतः वह जीव हिंसाके फलका भोक्ता नहीं होता ।।५१।।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ।।५२।।

अन्वयार्थः—[एकस्य] एक जीवको तो [अल्पा] थोडी [हिंसा] हिंसा [काले] उदयकालमें [अनल्पम्] बहुत [फलं] फलको [ददाति] देती है और [अन्यस्य] दूसरे जीवको [महाहिंसा] महान् हिंसा भी [परिपाके] उदयकालमें [स्वल्पफला] अत्यन्त थोड़ा फल देनेवाली [भवति] होती है।

टीकाः—'एकस्य अल्पा हिंसा काले अनल्पं फलं ददाति'—किसी एक जीवको थोड़ी भी हिंसा उदयकालमें बहुत फल देती है।

भावार्थः—किसी जीवने बाह्य हिंसा तो थोड़ी ही की परन्तु प्रमादी होकर कषायरूप बहुत परिणमन किया इसलिए उदयकालमें हिंसाका फल बहुत पाता है। 'अन्यस्य महाहिंसा परिपाके स्वल्पफला भवति'—अन्य किसी जीवकी बड़ी हिंसा उदयकालमें थोड़े ही फलको देनेवाली होती है।

भावार्थः—किसी जीवने कारणवश बाह्य हिंसा तो बहुत की परन्तु उस क्रियामें उदासीन रहा, कषाय थोड़ी की, इसलिए उदयकालमें हिंसाका फल भी थोड़ा ही प्राप्त करता है ।।५२।।

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य ।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ।।५३।।

अन्वयार्थः—[सहकारिणोः अपि हिंसा] एक साथ मिलकर की हुई हिंसा भी [अत्र] इस [फलकाले] उदयकालमें [वैचित्र्यम्] विचित्रताको [व्रजति] प्राप्त होती है और [एकस्य] किसी एकको [सा एव] वही हिंसा [तीव्रं] तीव्र [फलं] फल [दिशति] दिखलाती है और [अन्यस्य] किसी दूसरेको [सा एव] वही [हिंसा] हिंसा [मन्दम्] तुच्छ फल देती है।

टीकाः—'सहकारिणोः अपि हिंसा अत्र फलकाले वैचित्र्यं व्रजति'—दो पुरुषोंके द्वारा एक साथ मिलकर की गई हिंसा फलके समय विचित्ररूप—अनेक प्रकारताको प्राप्त होती है, वही कहते हैं। 'एकस्य सैव तीव्रं फलं दिशति'—एक पुरुषको तो वही हिंसा तीव्र फलको देती है, 'अन्यस्य सा एव मन्दं फलं दिशति'—दूसरे जीवको वही हिंसा मन्दफलको देती है।

भावार्थः—दो पुरुषोंने बाह्य हिंसा तो एक साथ की परन्तु उस कार्यमें जिसने तीव्रकषायसे हिंसा की उसके आसक्तता अधिक होनेसे उदयकालमें तीव्रफल होता है जिसके मन्दकषायसे आसक्तता विशेष नही हुई उसे उदयकालमें मन्दफल प्राप्त होता है ॥५३॥

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृता अपि।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥५४॥

अन्वयार्थः—[हिंसा] कोई हिंसा [प्राक् एव] पहले ही [फलति] फल देती है कोई [क्रियमाणा] करते करते [फलति] फल देती है कोई [कृता अपि] कर लेनेके बाद [फलति] फल देती है [च] और कोई [कर्तुम् आरभ्य] हिंसा करनेका आरम्भ करके [अकृता अपि] न किये जाने पर भी [फलति] फल देती है। इसी कारण [हिंसा] हिंसा [अनुभावेन] कषायभाव अनुसार ही [फलति] फल देती है।

टीकाः—'च हिंसा प्राक् एव फलति'—कोई हिंसा पहले फल देती है।

भावार्थः—किसी जीवने हिंसाका विचार किया था परन्तु वह तो नहीं बन सकी किन्तु उस विचारसे जो कर्म बाँधा था उसका फल उदयमें आया। तत्पश्चात् हिंसाका जो विचार किया था वह कार्य भी बाह्यमें बन गया, इस तरह हिंसा पहले ही फल देती है। 'क्रियमाणा फलति'—तथा कोई हिंसा करते समय ही फल देती है।

भावार्थः—किसीने हिंसाका विचार किया और उससे जो कर्म बन्ध किया वह कर्म जिस समय उदयमें आया उसी समय विचारानुसार बाह्य हिंसा बन गई। इस तरह हिंसा करते हुए ही उसका फल प्राप्त होता है। 'कृता अपि च फलति'—तथा कोई हिंसा करनेके बाद फल देती है।

भावार्थः—किसीने हिंसाका विचार किया और विचार अनुसार बाह्य हिंसा भी कर ली परन्तु उसका फल बादमें उदयमें आया इस भांति कर लेनेके बादमें हिंसा

फलित हुई। 'हिंसा कर्तुम् आरभ्य अपि फलति'—किसीने हिंसा करनेकी शुरुआत की परन्तु बादमें नहीं की तो भी वह फलित होगी।

भावार्थः—कोई जीव हिंसाका विचार करके हिंसा करनेमें उद्यमी हुआ, किन्तु बादमें कारणवश हिंसा नही की। ऐसी हिंसा भी फल देती है इस प्रकार फल होनेका कारण कहते हैं।

'अनुभावेन'—कषायभाव अनुसार फल होता है। यही पद अगले सूत्रोंमें भी 'देहली दीपक न्याय'की तरह सर्वत्र जान लेना।

इसीलिए मध्यमें कहा है:—

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः ॥५५॥

अन्वयार्थः—[एकः] एक पुरुष [हिंसां] हिंसा [करोति] करता है परन्तु [फलभागिनः] फल भोगनेवाले [बहवः] बहुत [भवन्ति] होते है। इसी तरह [हिंसां] हिंसा [बहवः] अनेक पुरुष [विदधति] करते है परन्तु [हिंसाफलभुक्] हिंसाका फल भोगनेवाला [एकः] एक पुरुष [भवति] होता है।

टीकाः—'हिंसा एकः करोति फलभागिनः बहवः भवन्ति'—कही हिंसा तो एक पुरुष करता है और फल भोक्ता अनेक होते है। उसका उदाहरणः—चोरको (फांसीकी शिक्षामें) मारता तो एक चाण्डाल ही है परन्तु सर्व दर्शक रौद्र परिणाम करके पापके भोक्ता होते है। 'हिंसां बहवः विदधति एकः हिंसाफलभुक् भवति'—कही हिंसा तो बहुत पुरुष करते हैं परन्तु हिंसाका फल भोक्ता एक ही पुरुष होता है। उसका उदाहरणः—संग्राममे हिंसा तो बहुत पुरुष करते है परन्तु राजा स्वामित्वबुद्धिसे उस हिंसाका प्रेरक होता है अतः वही सर्व हिंसाके फलका भोक्ता होता है ॥५५॥

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलं ॥५६॥
हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥५७॥

अन्वयार्थः—[कस्यापि] किसी पुरुषको तो [हिंसा] हिंसा [फलकाले] उदयकालमें [एकमेव] एक ही [हिंसाफलं] हिंसाका फल [दिशति] देती है और [अन्यस्य] दूसरे किसी पुरुषको [सैव] वही [हिंसा] हिंसा [विपुलं] बहुत [अहिंसा फलं] अहिंसाका फल [दिशति] देती है । [तु अपरस्य] और अन्य किसीको [अहिंसा] अहिंसा [परिणामे] उदयकालमें [हिंसाफलं] हिंसाका फल [ददाति] देती है [तु पुनः] तथा [इतरस्य] दूसरे किसीको [हिंसा] हिंसा [अहिसाफलं] अहिंसाका फल [दिशति] देती है [अन्यत् न] अन्य नही ।

टीकाः—'तु अपरस्य अहिंसा परिणामे हिंसाफलं ददाति'—दूसरे किसी जीवको अहिसा, उदयके परिणाममें, हिसाका फल देती है।

भावार्थः—किसी जोवको अन्तरङ्गमें तो किसी जीवका बुरा करनेका परिणाम है परन्तु बाह्यमें उसे विश्वास दिलानेके लिए भला करता है, अथवा बुरा करे तो भी उसके पुण्यके उदयसे इसके निमित्तसे उसका भला हो जाता है । वहाँ बाह्यमें तो उसकी दया की परन्तु अन्तरङ्गमें हिसाके परिणाम होनेसे हिंसाके फलको पाता है । पुनः 'इतरस्य हिंसा अहिंसाफलं दिशति, अन्यत् न'—अन्य किसी जीवको हिंसा, अहिंसाके फलको देती है, अन्य फल नही ।

भावार्थः—किसीके अन्तरंगमें दयाभाव है और वह यत्नपूर्वक किसी दुखी जीवको देखकर उसके दुख निवारणमें प्रयत्नवान है फिर भी यदि उसे तत्काल कष्ट हो जाय अथवा यत्न करते हुए भी इसके निमित्तसे उस दुखी जीवका प्राणघात हो जाय वहाँ यद्यपि बाह्यमें तो उसको हिसा ही हुई परन्तु अन्तरंग परिणामसे वह अहिसाके फलको प्राप्त करता है ॥५६-५७॥

इतिविविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ॥५८॥

अन्वयार्थः—[इति] इस प्रकार [सुदुस्तरे] अत्यन्त कठिनतासे पार हो सकनेवाले [विविधभङ्गगहने] अनेक प्रकारके भंगोंसे युक्त गहन वनमें [मार्गमूढदृष्टीनाम्] मार्ग भूले हुए पुरुषको [प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः] अनेक प्रकारके नयसमूहके ज्ञाता [गुरवः] श्रीगुरु ही [शरणं] शरण [भवन्ति] होते हैं ।

टीकाः—'इति सुदुस्तरे विविधभङ्गगहने मार्गमूढदृष्टीनां गुरवः शरणं भवन्ति'—इस प्रकार सुगमपने जिसका पार नहीं पाया जा सकता ऐसे अनेक प्रकारके भंगरूपी गहन

वनमें सत्यश्रद्धानस्वरूपमार्गमें जिसकी दृष्टि भ्रमित हो गई है उसके लिए श्रीगुरु ही शरण हैं। उनके द्वारा ही सत्यमार्गका स्वरूप जाना जा सकता है। कैसे हैं गुरु ? 'प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः'—जिन्होंने अनेक प्रकारके नयसमूहका प्रवर्तन जाना है और सर्व नयोंको समझानेमें समर्थ हैं ॥५८॥

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥५९॥

अन्वयार्थः—[जिनवरस्य] जिनेन्द्र भगवानका [अत्यन्तनिशितधारं] अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला और [दुरासदं] दुःसाध्य [नयचक्रं] नयचक्र [धार्यमाणं] धारण करने पर [दुर्विदग्धानां] मिथ्याज्ञानी पुरुषोंके [मूर्धानं] मस्तकको [झटिति] तुरन्त ही [खण्डयति] खण्डखण्ड कर देता है।

भावार्थः—जैनमतका नयभेद समझना अत्यन्त कठिन है जो कोई मूढ पुरुष बिना समझे नयचक्रमें प्रवेश करता है वह लाभके बदले हानि उठाता है। इस प्रकार हिंसाका भंग कहा ॥५९॥

अब हिंसाके त्यागका उपदेश करते हैं:—

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन ।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥६०॥

अन्वयार्थः—[नित्यं] निरन्तर [अवगूहमानैः] संवरमें उद्यमी पुरुषोंको [तत्त्वेन] यथार्थ रीतिसे [हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि] हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाका फल [अवबुध्य] जानकर [निजशक्त्या] अपनी शक्ति प्रमाण [हिंसा] हिंसा [त्यज्यतां] छोड़नी चाहिए।

टीकाः—'नित्यं अवगूहमानैः निजशक्त्या हिंसा त्यज्यताम्'—संवरमें उद्यमी जीवोंको सदैव अपनी शक्तिसे हिंसाका त्याग करना चाहिए। जितनी हिंसा छूट सके उतनी छोड़ना चाहिए। किस प्रकार ? 'तत्त्वेन हिंस्य हिंसक हिंसा हिंसाफलानि अवबुध्य'—यथार्थ रीतिसे हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाका फल—इन चार भावोंको जानकर हिसाका त्याग करना उचित है। इन्हें जाने बिना त्याग होता नही है और यदि किया भी गया हो तो कार्यकारी नही है। उसमें—

१. हिंस्य--जिसकी हिंसा हो उसे हिंस्य कहते हैं। अपने भावप्राण अथवा द्रव्यप्राण तथा परजीवके भावप्राण या द्रव्यप्राण यह हिंस्यके भेद है। अथवा एकेन्द्रियादि जीवसमासके भेद जानना अथवा जहाँ जहाँ जीवके उत्पन्न होनेके स्थान हैं वह जानना चाहिए। उनका यथास्थान वर्णन होता ही है।

२. हिंसक--हिंसा करनेवाले जीवको हिंसक कहते है वहां प्रमादभावरूपसे परिणमन करनेवाले अथवा अयत्नाचारमें प्रवर्तन करनेवाले जीवको हिंसक जानना।

३. हिंसा--हिंस्यको पीड़ा पहुँचाना अथवा उसका घात करना हिंसा है। उसका वर्णन ऊपर कर आये है।

४. हिंसाफल--हिंसासे जो कुछ फल प्राप्त हो उसे हिंसाफल कहते हैं। इस लोकमें तो हिंसक जीव निन्दा पाते है, राजा द्वारा दण्ड प्राप्त करते हैं और जिसकी यह हिंसा करना चाहता है यदि उसका वश चले तो वही इसका घात कर डालता है। तथा परलोकमें नरकादि गति पाता है, वहाँ नाना प्रकारके छेदन-भेदनादि शारीरिक, तथा अनेक प्रकारके मानसिक कष्ट भोगता है। नरकका वर्णन कोई कहाँ तक लिखे ? सर्व दुःखोंका ही समुदाय है। तिर्यञ्चादिका दुःख प्रत्यक्ष ही प्रतिभासित होता है। यह सब हिंसाका फल है। इस प्रकार हिंस्यको जानकर स्वयं उसका घात न करे, हिंसकको जानकर स्वयं वैसा न बने, हिंसाको जानकर उसका त्याग करे और हिंसाका फल जानकर उससे भयभीत रहे। इसलिए यह चार भेद जानना चाहिए ॥६०॥

आगे जो जीव हिंसाका त्याग करना चाहते हैं उन्हें प्रथम क्या करना चाहिये वह कहते हैं:—

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥

अन्वयार्थः—[हिंसाव्युपरतिकामैः] हिंसाके त्यागके इच्छुक पुरुषोंको [प्रथममेव] प्रथम ही [यत्नेन] यत्नपूर्वक [मद्यं] शराब, [मांसं] मांस, [क्षौद्रं] मधुशहद और [पञ्चोदुम्बरफलानि] * पाँच उदुम्बर फल [मोक्तव्यानि] छोड़ देना चाहिए।

---

* पाँच उदुम्बर फलोंके नाम—बड़-पीपल अर्थात गूलरके फल-पाकर-ऊमर-कठूमर [फणस]के फल। (अंजीर भी ऊमर फलमें या कठूमरमें समझना)।

टीका:—'हिंसाव्युपरतिकामैः प्रथमं एव यत्नेन, मद्यं, मांसं, क्षौद्रं, पंचउदुम्बरफलानि मोक्तव्यानि'—जो जीव हिंसाका त्याग करना चाहते हैं उन्हें प्रथम ही यत्नपूर्वक मद्य, मांस मधु और पांच उदुम्बरफल यह आठ वस्तुएँ त्याग करने योग्य हैं ॥६१॥

वहाँ प्रथम ही मद्यके दोषको कहते हैं:—

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् ।
विस्मृतधर्माजीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥६२॥

अन्वयार्थः—[मद्यं] मदिरा [मनोमोहयति] मनको मोहित करती है और [मोहितचित्तः] मोहित चित्त पुरुष [तु] तो [धर्मम्] धर्मको [विस्मरति] भूल जाता है तथा [विस्मृतधर्मा] धर्मको भूला हुआ [जीवः] जीव [अविशङ्कम्] निःशंक— निडर होकर [हिंसां] हिंसाका [आचरति] आचरण करता है ।

टीका:—'मद्यं मनः मोहयति'—मदिरा मनको मोहित करती है। मदिरा पीनेके बाद कुछ होश नहीं रहता 'तु मोहितचित्तः धर्मं विस्मरति'—और मोहित चित्तवाला मनुष्य धर्मको भूल जाता है। खबर बिना धर्मको कौन सँभाले ? 'विस्मृतधर्मा जीवः अविशङ्कम् हिंसां आचरति'—धर्मको भूला हुआ जीव निःशंक होकर बेधड़क हिंसाका आचरण करता है। धर्मकी खबर न होनेसे हिंसा करनेमें डर किसका करे ? इसलिए मदिरा हिंसाका परम्परा कारण है ॥६२॥

आगे मदिराको हिंसाका साक्षात् कारण बताते हैं:—

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम् ।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥६३॥

अन्वयार्थः—[च] और [मद्यं] मदिरा [बहूनां] बहुत [रसजानां जीवानां] रससे उत्पन्न हुए जीवोंका [योनिः] उत्पत्ति स्थान [इष्यते] माना जाता है। इसलिए जो [मद्यं] मदिराका [भजतां] सेवन करता है उसके [तेषां] उन जीवोंकी [हिंसा] हिंसा [अवश्यम्] अवश्य ही [संजायते] होती है ।

टीका:—'च मद्यं रसजानां जीवानां बहूनां योनिः इष्यते'—मदिरा रससे उत्पन्न हुए बहुत एकेन्द्रियादि जीवोंकी योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान है इसलिए 'मद्यं भजतां तेषां हिंसा अवश्यं संजायते'—जो मदिरापान करता है उसके उन मदिराके जीवोंकी हिंसा

अवश्यमेव होती है। मदिरामें जो जीव पैदा हुए थे उन सबको यह पी गया तो हिंसा कैसे नहीं हुई ॥६३॥

आगे मदिरामें भावित हिंसा बताते हैं:—

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः ।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ॥६४॥

अन्वयार्थः—[च] और [अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः] अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि [हिंसायाः] हिंसाके [पर्यायाः] भेद है और [सर्वेऽपि] यह सभी [सरकसन्निहिता] मदिराके निकटवर्ती है।

टीकाः—'च अभिमानभयजुगुप्सा हास्य अरति शोक काम कोपाद्याः हिंसायाः पर्यायाः सर्वे अपि सरकसन्निहिताः—तथा अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि जितने हिंसाके भेद है वे सभी मदिराके निकटवर्ती हैं। एक मदिरापान करनेसे वे सभी तीव्ररूपसे ऐसे प्रगट होते हैं कि माताके साथ भी कामक्रीड़ा करनेको तैयार हो जाता है। अभिमानादिका लक्षण पूर्वमें वर्णन कर चुके है। इस प्रकार मदिराका प्रत्यक्ष दोष जानकर मदिराका त्याग करना योग्य है। इसके अतिरिक्त जो अन्य मादक—नशावाली वस्तुयें है उनमें भी हिंसाके भेद प्रगट होते है अतः उन सबका भी त्याग करना उचित है ॥६४॥

आगे मांसके दोष बताते हैं:—

न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् ।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥६५॥

अन्वयार्थः—[यस्मात्] कारण कि [प्राणिविघातात् विना] प्राणियोंका घात किए विना [मांसस्य] मांसकी [उत्पत्तिः] उत्पत्ति [न इष्यते] नही मानी जा सकती [तस्मात्] इसलिए [मांसं भजतः] मांसभक्षी पुरुषको [अनिवारिता] अनिवार्यरूपसे [हिंसा] हिंसा [प्रसरति] फैलती है।

टीकाः—'यस्मात् प्राणिविघातात् विना मांसस्य उत्पत्ति न इष्यते'—प्राणियों—जीवोंके घात किए विना मांसकी उत्पत्ति देखनेमें नहीं आती। मांस (द्विइन्द्रियादि) जीवोंके शरीरमें होता है, दूसरी जगह नही। अतः उनके घात करने पर ही मांस मिलता है।

'तस्मात् मांसं भजतः अनिवारिता हिंसा प्रसरति'—इसलिए मांसभक्षीको अनिवार्य हिंसा फैलती है—लगती है। मांस खानेवाला हिंसाको कैसे नहीं करे? अवश्य करे ही करे ॥६५॥

आगे कोई कहे कि स्वयं जीवको न मारे तो दोष नहीं है, उससे कहते हैं:—

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥६६॥

अन्वयार्थः—[यदपि] यद्यपि [किल] यह सत्य है कि [स्वयमेव] अपने आप ही [मृतस्य] मरे हुए [महिषवृषभादेः] भैंस, बैल इत्यादिका [मांसं] मांस [भवति] होता है परन्तु [तत्रापि] वहाँ भी अर्थात् उस मांसके भक्षण करनेमें भी [तदाश्रित-निगोतनिर्मथनात्] उस मांसके आश्रय रहनेवाले उसी जातिके निगोद जीवोंके मंथनसे [हिंसा] हिंसा [भवति] होती है।

टीकाः—'यद्यपि किल स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः मांसं भवति तत्र अपि हिंसा भवति'—यद्यपि प्रगटरूपसे अपने आप मरे हुए भैंस, बैल वगैरह जीवोंका मांस होता है तो भी उस मांसभक्षणमें भी हिंसा होती है। किस प्रकार? 'तदाश्रित निगोद निर्मथनात्'—स्वयं तो जीवको नही मारा परन्तु फिर भी उस मांसके आश्रित जो निगोदरूप अनन्त जीव रहते है उनके घात करनेसे हिंसा होती है ॥६६॥

आगे मांसमें निगोदकी उत्पत्ति कहते हैं:—

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥६७॥

अन्वयार्थः—[आमासु] कच्ची [पक्वासु] पकी [अपि] तथा [विपच्यमानासु] पकती हुई [अपि] भी [मांसपेशीषु] मांसपेशियोमें [तज्जातीनां] उसी जातिके [निगोतानाम्] सम्मूर्छन जीवोका [सातत्येन] निरन्तर [उत्पादः] उत्पाद होता है।

टीकाः—'आमास्वपि, पक्वास्वपि, विपच्यमानासु मांसपेशीषु तज्जातीनां निगोतानाम् सातत्येन उत्पादः अस्ति'—कच्चा हो, अग्नि पर पका हुआ हो, अथवा अग्नि पर पक रहा हो ऐसे सर्व मांसके टुकड़ोमें उसी जातिके निगोदिया अनन्त जीव समय समय निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। सर्व अवस्थाओंमें मांसके टुकड़ोंमें निरन्तर उसी मांस जैसे नए नए अनन्त जीव उत्पन्न होते रहते है ॥६७॥

आगे मांससे हिंसा होती है ऐसा प्रगट करते हैं:—

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥६८॥

अन्वयार्थः—[यः] जो जीव [आमां] कच्ची [वा] अथवा [पक्वां] अग्निमें पकी हुई [पिशितपेशीम्] मांसकी पेशीको [खादति] खाता है [वा] अथवा [स्पृशति] छूता है [सः] वह पुरुष [सततनिचितं] निरन्तर इकट्ठे हुए [बहुजीवकोटीनाम्] अनेक जातिके जीव समूहके [पिण्डं] पिण्डका [निहन्ति] घात करता है ।

टीका:—'यः आमां वा पक्वां पिशितपेशीम् खादति वा स्पृशति सः सततनिचितं बहुजीवकोटीनाम् पिण्डं निहन्ति'—जो जीव कच्चा अथवा अग्निमें पकाये हुए मांसके टुकड़ेका भक्षण करता है अथवा हाथ वगैरहसे स्पर्श करता है वह जीव निरन्तर जिसमें अनेक जातिके जीव इकट्ठे हुए थे, उस पिण्डका घात करता है । मांसमें तो निरन्तर जीव उत्पन्न हो होकर इकट्ठे हुए थे । इसने उस मांसका भक्षण किया अथवा स्पर्श किया इससे उन जीवोंको परम हिंसा उत्पन्न हुई अतः मांसका त्याग अवश्य करना चाहिए । जिन दूसरी वस्तुओंमें भी बहुत जीवोंकी उत्पत्ति पाई जाती है वह सभी वस्तुयें त्याग करने योग्य हैं ॥६८॥

आगे मधुके दोष बताते हैं:—

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके ।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥६९॥

अन्वयार्थः—[लोके] इस लोकमें [मधुशकलमपि] मधुकी एक बूंद भी [प्रायः] बहुत करके [मधुकरहिंसात्मकं] मधुकर—भौरोंकी अथवा मधुमक्खियोंकी हिंसा स्वरूप [भवति] होती है इसलिए [यः] जो [मूढ़धीकः] मूर्ख बुद्धि मनुष्य [मधु भजति] मधुका भक्षण करता है [सः] वह [अत्यन्तं हिंसकः] अत्यन्त हिंसा करनेवाला होता है, इसलिए सर्वथा प्रकार मधुका त्याग करना योग्य है ॥६९॥

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात् ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥७०॥

अन्वयार्थः—[यः] जो कोई [छलेन] कपटसे [वा] अथवा [गोलात्] मधुछत्तामेंसे [स्वयमेव विगलितम्] अपने आप टपका हुआ [मधु] मधुका [गृह्णीयात्]

ग्रहण करता है [तत्रापि] वहाँ भी [तदाश्रय प्राणिनाम्] उसके आश्रयभूत जन्तुओंके [घातात्] घातसे [हिंसा] हिंसा [भवति] होती है ।

आगे इस त्यागको समुच्चय रूपसे कहते हैं:—

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः ।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ।।७१।।

अन्वयार्थः—[मधु] शहद [मद्यं] मदिरा [नवनीतं] मक्खन [च] और [पिशितं] मांस [महाविकृतयः] महान विकारोंको धारण करनेवाले [ताः] इन चारों पदार्थोंको [व्रतिना] व्रती पुरुष [न वल्भ्यन्ते] भक्षण न करे । कारण कि [तत्र] उन वस्तुओंमें [तद्वर्णा] उसी जातिके उसी वर्णके धारी [जन्तवः] जीव रहते है ।

टीकाः—'व्रतिना मधु मद्यं नवनीतं च पिशितं ताः महाविकृतयः न वल्भ्यन्ते'—व्रतधारी जीवोंको मधु, मदिरा, * मक्खन और मांस जो बहुत विकारको धारण करनेवाले है, तथा इन्हीके समान अन्य विकारयुक्त पदार्थोंका भक्षण नहीं करना चाहिए । मधुकी एक बूंद भी मक्खीकी हिंसासे मिलती है । जो मन्दबुद्धि शहद खाते हैं वे अत्यन्त हिसक हैं । जो स्वयमेव टपका हुआ अथवा कपट करके मधु छत्तामेंसे मधु लेते हैं वह भी हिंसक हैं । कारण कि मधुके आश्रय रहनेवाले जीवोंकी हिंसा तो उस समय भी होती है । व्रती पुरुष इन वस्तुओंका भक्षण नही करता । किसलिये ? 'तत्र तद्वर्णाः जन्तवः'—उस वस्तुमें उसी रंगवाले बहुत जीव होते हैं । जैसी वह वस्तु है वैसे ही उसमें जीव होते हैं । अन्य वस्तुओके कहनेसे चमड़ेसे स्पर्शित घी, तेल, जल अथवा संधान, आचार, विष, मिट्टी इत्यादि अभक्ष्य वस्तुओंका त्याग करना योग्य है । मुख्यरूपसे मद्य, मांस, मधुका त्याग करवाया तत्पश्चात् अन्य अभक्ष्य वस्तुओंके छोड़नेका उपदेश किया ।।७१।।

आगे पाँच उदुम्बर फलके दोष बताते हैं:—

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि ।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ।।७२।।

---

* मक्खनको दहीमेंसे निकालनेके बाद अन्तर्मुहूर्त्तमें ही तपा लेना चाहिए, अन्यथा वह अभक्ष्य हो जावेगा ।

अन्वयार्थः—[उदुम्बरयुग्मं] ऊमर, कठूमर [प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि] पाकर (अंजीर) बड़के फल और पीपल वृक्षके फल [त्रसजीवानां] त्रस जीवोंकी [योनिः] खान हैं [तस्मात्] इसलिए [तद्भक्षणे] उनके भक्षणमें [तेषां] उन त्रस जीवोंकी [हिंसा] हिंसा होती है।

टीकाः—'उदुम्बरयुग्मं प्लक्ष न्यग्रोध पिप्पलफलानि त्रसजीवानां योनिः'—उदुम्बर और कठूमर यह दो तथा पाकर (अंजीर), बड़ और पीपलके फल यह तीन—यह सभी त्रस जीवोंकी योनि हैं। इनमें उड़ते हुए जीव दिखाई पड़ते है। 'तस्मात् तद्भक्षणे तेषां हिंसा भवति'—अतः इन पाँच वस्तुओके भक्षणमें उन त्रस जोवोंकी हिंसा होती है ।।७२।।

यदि कोई कहे कि इन पाँच उदुम्बरादि फलोंमें त्रस जीव न हों तब तो भक्षण करलें ? उसके लिए आगे कहते हैं:—

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्ट रागादिरूपा स्यात् ।।७३।।

अन्वयार्थः—[तु पुनः] और फिर [यानि] यह पाँच उदुम्बर [शुष्कानि] सूखे हुए [कालोच्छिन्नत्रसाणि] समय बीतने पर त्रसरहित [भवेयुः] हो गए हों [तान्यपि] उनके भी [भजतः] भक्षण करनेवालेको [विशिष्टरागादिरूपा] विशेष रागादिरूप [हिंसा] हिंसा [स्यात्] होती है।

टीकाः—'तु पुनः यानि शुष्काणि कालोच्छिन्नत्रसाणि भवेयुः तान्यपि भजतः हिंसा स्यात्'—फिर जो पाँच उदुम्बरादिफल काल पाकर त्रस जीव रहित शुष्क हो गए हो तो भी उन्हें खानेवालेको हिंसा होती है। कैसी हिंसा होती है ? 'विशिष्ट रागादिरूपा'—जिसमें विशेष रागभाव हुआ है ऐसे स्वरूपवाली। जो अधिक राग न होता तो ऐसी निन्द्य वस्तु किसलिए ग्रहण करता ? अतः जहाँ अधिक रागभाव हुआ वही हिंसा है। जैसे किसीने हरी वस्तु नही खाई परन्तु उस वस्तुमें रागभावके सद्भावके कारण उसे सुखाकर खाया। जो राग न हो तो किसलिए ऐसा प्रयास करे ?

प्रश्नः—यदि सूखी हुई वस्तुमें दोष है तो अन्न क्यों खाते हैं ?

उत्तरः—अन्न निन्द्य नहीं है। तथा वह तो रागभावके विना सहज प्रवृत्तिसे सूखता है, और उसका भक्षण भी सामान्य पेट भरनेके निमित्त किया जाता है अतः

कुछ विशेष राग होनेका कारण नहीं है। यहाँ तो विशेषरूपसे रागभावका होना ही हिंसा है—ऐसा बताया गया है ।।७३।।

आगे इस कथनका संकोच करते हैं:—

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ।।७४।।

अन्वयार्थः—[अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि] दुःखदायक दुस्तर और पापके स्थान [अमूनि] ऐसे [अष्टौ] आठ पदार्थोंका [परिवर्ज्य] परित्याग करके [शुद्धधियः] निर्मल बुद्धिवाले पुरुष [जिनधर्मदेशनायाः] जैनधर्मके उपदेशके [पात्राणि] पात्र [भवन्ति] होते हैं।

टीकाः—'अनिष्टदुस्तरदुरितआयतनानि अमूनि अष्टौ परिवर्ज्य शुद्धधियः जिनधर्मदेशनायाः पात्राणि भवन्ति'—महादुःखदायक और सुगमतासे जिनका पार न पाया जा सके ऐसे महापापके स्थानरूप इन आठ वस्तुओंके खानेसे महापाप उत्पन्न होता है। अतः इन्हें सर्वथा छोड़कर, निर्मल बुद्धिवाला होता हुआ, जैनधर्मके उपदेशका पात्र होता है। प्रथम इनका त्याग कराया जाय, तत्पश्चात् ही कोई अन्य उपदेश दिया जाय। जैसे जड़के बिना वृक्ष नहीं होता वैसे ही इनका त्याग किए बिना श्रावक नहीं होता। इसी कारण इनका नाम मूलगुण है ।।७४।।

आगे इन हिंसादिकके त्याग करनेका विधान कहते हैं:—

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ।।७५।।

अन्वयार्थः—[औत्सर्गिकी निवृत्तिः] उत्सर्गरूप निवृत्ति अर्थात् सामान्य त्याग [कृतकारितअनुमननैः] कृत, कारित और अनुमोदनारूप [वाक्कायमनोभिः] मन, वचन, और कायसे [नवधा] नव प्रकारसे [इष्यते] माना गया है [तु] और [एषा] यह [अपवादिकी] अपवादरूप निवृत्ति [विचित्ररूपा] अनेकरूप है।

टीकाः—'औत्सर्गिकी निवृत्तिः कृतकारितानुमोदनैः वाक्कायमनोभिः नवधा इष्यते'—यह उत्सर्गरूप त्याग कृत, कारित, अनुमोदन सहित मन, वचन, कायके भेदसे नौ प्रकारका कहा गया है, 'तु अपवादिकी एषा विचित्ररूपा'—और अपवादरूप त्याग अनेक प्रकार है।

भावार्थः—हिंसादिका त्याग दो प्रकार है। एक उत्सर्ग त्याग और दूसरा अपवाद त्याग। उत्सर्ग अर्थात् सामान्य। सामान्यरूपसे सर्वथा प्रकार त्याग करनेको उत्सर्ग त्याग कहते हैं। उसके नौ भेद है। मनसे स्वयं करनेका चिन्तवन न करे, दूसरेके द्वारा करवानेका चिन्तवन न करे, और किसीने किया हो उसे भला न जाने। वचनसे स्वयं करनेके लिए न कहे, अन्यको करवानेके लिए उपदेश न दे, किसीने किया हो उसे भला न कहे। कायसे स्वयं न करे, अन्यको हाथ इत्यादिसे प्रेरित करके न करावे, किसीने किया हो उसकी हस्तादिकसे प्रशंसा न करे। यह नव भेद कहे। तथा अपवाद त्याग अनेक प्रकारका है। यह नव भङ्ग बताये उनमेंसे कितने ही भंगोसे अमुक प्रकार त्याग करे, अमुक प्रकार न करे, अथवा थोड़ा या बहुत त्याग करे, इस रीतिसे मुझे यह कार्य करना, इस रीतिसे नहीं करना, इस भाँति अपवाद त्याग भिन्न भिन्न प्रकारका है। अतः शक्य हो उस रीतिसे त्याग करना ॥७५॥

आगे हिंसाके त्यागके दो प्रकार कहते हैं:—

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोपि ये परित्युक्तम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ॥७६॥

अन्वयार्थः—[ये] जो जीव [अहिंसारूपं] अहिंसारूप [धर्मं] धर्मको [संशृण्वन्तः अपि] भले प्रकार सुनकर भी [स्थावर हिंसां] स्थावर जीवोंकी हिंसा [परित्यक्तुम्] छोड़नेको [असहाः] असमर्थ हैं [ते अपि] वे जीव भी [त्रसहिंसां] त्रस जीवोंकी हिंसा [मुञ्चन्तु] त्याग दें।

टीकाः—'ये अहिंसारूपं धर्मं संशृण्वन्तः अपि स्थावरहिंसां परित्यक्तुम् असहाः ते अपि त्रसहिंसां मुञ्चन्तु'—जो जीव, अहिंसा ही जिसका स्वरूप है ऐसे, धर्मका श्रवण गुरुमुखसे करते हैं परन्तु रागभावके वशसे स्थावर हिंसा छोड़नेको समर्थ नहीं हैं उन जीवोंको भी त्रसहिंसाका त्याग तो करना ही चाहिए।

भावार्थः—हिंसाका त्याग दो प्रकारसे है। एक तो सर्वथा त्याग है वह मुनिधर्ममें होता है उसे अंगीकार करना चाहिये। किन्तु यदि कषायवश सर्वथा त्याग न बन सके तो त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करके श्रावकधर्मको अंगीकार करना चाहिए। यहाँ कोई त्रसजीवका स्वरूप पूछे तो उससे कहते हैं कि संसारी जीव दो प्रकारके हैं। एक स्थावर और एक त्रस। जो एक स्पर्शेन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय जीव हैं वह स्थावर हैं उनके पांच भेद हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और

वनस्पतिकायिक। जो द्वींद्रियादिक जीव हैं उन्हें त्रस कहते है उनके चार भेद हैं। स्पर्शन और रसना इन्द्रिय सहित लट, कौड़ी, शंख, गिंजाई वगैरह दो इन्द्रिय जीव हैं। स्पर्श, जीभ और नासिका संयुक्त कीड़ी, मकोड़ा, कानखजूरा वगैरह तीन इन्द्रिय जीव है। स्पर्श, जीभ, नाक और आँख सहित मक्खी, भौरा, पतंगा इत्यादि चतुरिन्द्रिय जीव है। स्पर्श, जिह्वा, नासिका, नेत्र और कर्ण सहित जीव पंचेन्द्रिय हैं। उनके दो भेद है। जिसके मन पाया जाय उसे सेनी (संज्ञी) और जिसके मन न पाया जाय उसे असेनी (असंज्ञी) कहते है। इनमें संज्ञी पंचेन्द्रियको छोड़कर शेष सभी तिर्यचगतिके भेद है। सज्ञी पंचेन्द्रियके चार प्रकार हैं। देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यच। इनमें देव भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासीके भेदसे चार प्रकारके है। मनुष्य आर्य और म्लेच्छके भेदसे दो प्रकारके हैं। नारकी जीव सात भूमियोंकी अपेक्षासे सात प्रकारके हैं। तिर्यंचोमें मच्छादिक जलचर, वृषभादिक स्थलचर और हंसादिक नभचर—यह तीन प्रकार हैं। त्रस–स्थावरके यह भेद जानकर इनकी रक्षा करना चाहिए ।।७६।।

आगे श्रावकको स्थावरहिंसामें भी स्वच्छन्दपनेका निषेध करते हैं:—

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ।।७७।।

अन्वयार्थः—[सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्] इन्द्रिय–विषयोंको न्यायपूर्वक सेवन करनेवाले [गृहिणाम्] गृहस्थोंको [स्तोकैकेन्द्रियघातात्] अल्प एकेन्द्रियके घातके अतिरिक्त [शेषस्थावरमारणविरमणमपि] बाकीके स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवोंके मारनेका त्याग भी [करणीयम्] करने योग्य [भवति] है।

टीकाः—'सम्पन्नयोग्यविषयाणां गृहिणां स्तोकैकेन्द्रियघातात् शेषस्थावरमारणविरमणम् अपि करणीयम् भवति'—न्यायपूर्वक इन्द्रियोके विषयोंको सेवन करनेवाले श्रावकोंको यत्नवान होने पर भी थोड़ा एकेन्द्रियका घात होता है वह तो होवे किन्तु शेष स्थावर जीवोंको बिना कारण मारनेका त्याग भी उसे करना योग्य है।

भावार्थः—योग्य विषयोंका सेवन करते समय सावधानी वर्तते हुए भी स्थावरकी हिंसा होती है वह तो होती ही है परन्तु अन्य स्थावर जीवकी हिंसा करनेका त्याग तो करना चाहिए ।।७७।।

आगे इस अहिंसाधर्मका साधन करते हुए सावधान करते हैं:—

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम् ॥७८॥

अन्वयार्थः—[अमृतत्त्वहेतुभूतं] अमृत अर्थात् मोक्षका कारणभूत [परमं] उत्कृष्ट [अहिंसारसायनं] अहिंसारूपी रसायन [लब्ध्वा] प्राप्त करके [बालिशानां] अज्ञानी जीवोंका [असमञ्जसम्] असंगत वर्तन [अवलोक्य] देखकर [आकुलैः] व्याकुल [न भवितव्यम्] नही होना चाहिए।

टीका:—'अमृतत्त्वहेतुभूतं परमअहिंसारसायनं लब्ध्वा बालिशानां असमञ्जसम् अवलोक्य आकुलैः न भवितव्यम्'—मोक्षका कारणभूत उत्कृष्ट अहिंसारूपी रसायन प्राप्त करके अज्ञानी जीवोंका मिथ्यात्वभाव देखकर व्याकुल नही होना चाहिए।

भावार्थः—आप तो अहिंसाधर्मका साधन करता है और कोई मिथ्यादृष्टि अनेक युक्तियोंसे हिंसाको धर्म ठहराकर उसमें प्रवर्त्तन करे तो उसकी कीर्ति देखकर स्वयंको धर्ममें आकुलता नही उत्पन्न करना चाहिए अथवा कदाचित् आपके तो पूर्वबद्ध बहुत पापके उदयसे असाता उत्पन्न हुई हो और उसके तो बहुत पूर्व पुण्यके उदयसे किञ्चित् साता उत्पन्न हुई हो तो भी अपनेको उदयावस्थाका विचार करके धर्ममें आकुलता नही करना चाहिए ॥७८॥

आगे मिथ्यादृष्टि युक्तिसे हिंसामें धर्म ठहराता है उसको प्रगट करके श्रद्धालु श्रावकको सावधान करते हैं। वह बारह सूत्रोंमें कहते हैं:—

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥७९॥

अन्वयार्थः—[भगवद्धर्मः] भगवानका कहा हुआ धर्म [सूक्ष्मः] बहुत बारीक है इसलिये [धर्मार्थं] धर्मके निमित्तसे [हिंसने] हिंसा करनेमें [दोषः] दोष [नास्ति] नहीं है [इति धर्ममुग्धहृदयैः] ऐसा धर्ममूढ़ अर्थात् भ्रमरूप हृदयवाला [भूत्वा] होकर [जातु] कभी भी [शरीरिणः] शरीरधारी जीवोंको [न हिंस्याः] नही मारना चाहिए।

टीका:—'भगवद्धर्मः सूक्ष्मः'—ज्ञान सहित धर्म सूक्ष्म है, अतः 'धर्मार्थे हिंसने दोषः न अस्ति'—धर्मके निमित्तसे हिंसा करनेमें दोष नही है। 'इति धर्ममुग्धहृदयैः

भूत्वा शरीरिणः जातु न हिंस्याः'—इस प्रकार धर्ममें जिनका चित्त भ्रमरूप हुआ है वैसे होकर प्राणियोंको कभी भी मत मारो।

भावार्थः—कोई अज्ञानी कहता है कि दूसरी जगह तो हिंसा करना पाप है परन्तु यज्ञादिमें धर्मके निमित्तसे तो हिंसा करनेमें कोई दोष नहीं है। इस श्रद्धानके साथ हिंसामें प्रवर्तन करना योग्य नहीं है। जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म कभी नही है।

प्रश्नः—जैनमतमें मन्दिर बनवाना, पूजा–प्रतिष्ठा आदि करना कहा है वहाँ धर्म है कि नही ?

उत्तरः—मन्दिर, पूजा, प्रतिष्ठादि कार्यमें यदि जीव हिंसा होनेका भय न रखे, यत्नाचारसे न प्रवर्त्ते, किन्तु केवल अपनी प्रतिष्ठा और मान पोषणके लिए जैसे तैसे कार्य करे तो वहाँ धर्म नही है, पाप ही है। और यत्नपूर्वक कार्य करते हुए थोड़ी हिंसा हो तो उस हिंसाका पाप तो हुआ परन्तु धर्मानुरागसे पुण्य संचय विशेष होता है अथवा अपना संचित धन खर्च करनेसे लोभकषायरूप अन्तरंग हिंसाका त्याग होता है। हिंसाका मूलकारण तो कषाय हैं, इसलिये तीव्रकषायरूप होकर उनकी हिंसा न करनेसे पाप भी थोड़ा हुआ। अतः इस रीतिसे पूजा–प्रतिष्ठादि करे तो पुण्यरूपी धर्म ही होता है। जैसे कोई मनुष्य धन खर्च करनेके लिये धन कमाता है तो उसे कमाया ही कहते हैं। यदि वह धन धर्म कार्यमें न लगाता तो उस धनसे विषय सेवन करके महापाप उत्पन्न करता, इस दृष्टिसे धर्म कार्यमें अल्प सावद्य लगने पर भी नफा ही हुआ। जिस प्रकार मुनि एक ही नगरमें रागादि (स्नेहादि) उत्पन्न होनेके भयसे वहाँ न ठहर कर विहार करते हैं, विहार करते हुए थोड़ी बहुत हिंसा भी होती है परन्तु नफा–नुकसानका विचार करने पर एक ही नगरमें रहना योग्य नहीं है। उसी प्रकार यहाँ भी नफा–नुकसानका विचार करना चाहिए। एक सामान्य कथनसे विशेष कथनका निषेध नहीं करना चाहिए। ऐसा ही कार्य तो आरम्भी, अव्रती, और तुच्छव्रती करते है अतः सक्षेपमें ऐसा ही उपदेश है कि—धर्मके निमित्तसे हिंसा नही करना चाहिए ॥७९॥

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम् ।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ॥८०॥

अन्वयार्थः—[हि] निश्चयसे [धर्मः] धर्म [देवताभ्यः] देवोंसे [प्रभवति] उत्पन्न होता है इसलिये [इह] इस लोकमें [ताभ्यः] उनके लिये [सर्वं] सभी कुछ

[प्रदेयम्] दे देना चाहिये [इति दुर्विवेककलितां] ऐसी अविवेकसे ग्रसित [धिषणां] बुद्धि [प्राप्य] प्राप्त करके [देहिनः] शरीरधारी जीवोंको [न हिंस्याः] नहीं मारना चाहिए ।

टीकाः—'हि धर्मः देवताभ्यः प्रभवति'—निश्चयसे धर्म देवताओंसे उत्पन्न होता है, 'इह ताभ्यः सर्वं प्रदेयम्'—इस लोकमें उन देवोंके निमित्त सब कुछ दे देना चाहिए । जीवोंको भी मारकर उन पर चढ़ा दो । 'इति दुर्विवेककलितां धिषणां प्राप्य देहिनः न हिंस्याः'—ऐसी अविवेकपूर्ण बुद्धिसे प्राणियोको नही मारना चाहिए ।

भावार्थः—देव, देवी, क्षेत्रपाल, काली, महाकाली, चण्डी, चामुण्डी इत्यादिके लिए हिंसा नहीं करना । परजीवके मारनेसे अपना भला कैसे हो सकता है ? सर्वथा नहीं हो सकता ॥८०॥

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति ।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम् ॥८१॥

अन्वयार्थः—[पूज्यनिमित्तं] पूज्य पुरुषोंके लिये [छागादीनां] बकरा वगैरह जीवोंको [घाते] घात करनेमे [कः अपि] कोई भी [दोषः] दोष [नास्ति] नहीं है [इति] ऐसा [संप्रधार्य] विचारकर [अतिथये] अतिथि अथवा शिष्ट पुरुषोंके लिए [सत्त्वसंज्ञपनम्] जीवोंका घात [न कार्यम्] नहीं करना चाहिये ।

टीकाः—'पूज्यनिमित्तं छागादीनां घाते कोऽपि दोषः न अस्ति'—अपने गुरुके लिए बकरा आदि जीवोंके घातमें कुछ दोष नहीं है, 'इति संप्रधार्य अतिथये सत्त्वसंज्ञपनम् न कार्यम्'—ऐसा सोचकर अतिथि (फकीर इत्यादि गुरु)के लिये जीवोंका घात नहीं करना चाहिये ।

भावार्थः—पापी, विषयलम्पटी और जिह्वालोलुपी, जो स्वयं तथा अन्य जीवोंको नरकमें ले जानेके लिये तैयार हैं, ऐसे कुगुरुओंके लिये भी हिंसा करना उचित नही है । हिंसासे उनका और अपना कैसे मोक्ष हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता ॥८१॥

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम् ।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥८२॥

अन्वयार्थः—[बहुसत्त्वघातजनितात्] बहुतसे जीवोंके घातसे उत्पन्न हुए [अशनात्] भोजनकी अपेक्षा [एकसत्त्वघातोत्थम्] एक जीवके घातसे उत्पन्न हुआ भोजन [वरम्] अच्छा है [इति] ऐसा [आकलय्य] विचारकर [जातु] कभी भी [महासत्त्वस्य] बड़े त्रस जीवका [हिंसनं] घात [न कार्यम्] नहीं करना चाहिये।

टीकाः—'बहुसत्त्वघातजनितात् अशनात् एक सत्त्वघातोत्थम् वरम्'—बहुत जीवोंके नाशसे उत्पन्न हुए भोजनकी अपेक्षा एक जीवके मारनेसे उत्पन्न किया गया भोजन उत्कृष्ट है 'इति आकलय्य जातु महासत्त्वस्य हिंसनं न कार्यम्'—ऐसा विचारकर कभी भी बड़े जीवकी भी हिंसा नहीं करना चाहिये।

भावार्थः—कोई कहे कि अन्नके आहारमें तो बहुत जीव मरते है इसलिये एक बड़ा जीव मारकर भोजन करें तो बहुत भला,—ऐसा मानकर पंचेन्द्रिय जीवका घात करता है। वहाँ हिंसा तो प्राणघातसे है, और एकेन्द्रियकी अपेक्षा पंचेन्द्रियके द्रव्यप्राण तथा भावप्राण बहुत अधिक पाये जाते है। इसी कारण ऐसा उपदेश है कि बहुत एकेन्द्रिय जीवोंको मारनेकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीवके मारनेका पाप अनेक गुणा होता है तो पंचेन्द्रियके मारने पर क्यों न बहुत पाप होगा ? तथा द्वीन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके जीवोंके मारनेमें तो मांसका आहार होता है जिसका दोष पहले ही कहा जा चुका है इसलिये ऐसा ही श्रद्धान करना उचित है ॥८२॥

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥८३॥

अन्वयार्थः—[अस्य] 'इस [एकस्य एव] एक ही [जीवहरणेन] जीवका घात करनेसे [बहूनाम्] बहुत जीवोंकी [रक्षा भवति] रक्षा होती है,' [इति मत्वा] ऐसा मानकर [हिंस्रसत्त्वानाम्] हिंसक जीवोंकी भी [हिंसनं] हिंसा [न कर्त्तव्यम्] नहीं करना चाहिये।

टीकाः—'अस्य एकस्य जीवहरणेन बहूनाम् रक्षा भवति'—इस एक ही जीवके मारनेसे बहुतसे जीवोंकी रक्षा होती है 'इति मत्वा हिंस्र सत्त्वानाम् हिंसनं न कार्यम्'—ऐसा जानकर हिंसक जीवोका भी घात नहीं करना।

भावार्थः—सर्प, बिच्छू, सिंह, नाहर इत्यादि दूसरे जीवोंको काटनेवाले–मारनेवाले—हिंसक जीवोंको मार डालनेसे बहुतसे जीव बच जाते है इसलिये इनके मारनेमें

पाप नहीं है—ऐसा श्रद्धान नहीं करना, क्योंकि इसे तो इसके कार्यका पाप लगेगा। लोकमें अनेक जीव पाप-पुण्य उपार्जन करते हैं, उनमें इसको क्या ? वे हिंसक जीव हिंसा करते हैं तो उसका पाप उन्हें लगता है। आप उनकी हिंसा करके क्यों पाप उपार्जन करें ॥८३॥

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरु पापम् ।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥८४॥

अन्वयार्थः—[बहुसत्त्वघातिनः] 'बहुत जीवोंके घातक [अमी] यह जीव [जीवन्तः] जीवित रहेंगे तो [गुरु पापम्] बहुत पाप [उपार्जयन्ति] उपार्जित करेंगे' [इति] इस प्रकारकी [अनुकम्पां कृत्वा] दया करके [हिंस्राः शरीरिणः] हिंसक जीवोंको [न हिंसनीयाः] नहीं मारना चाहिये ।

टीकाः—'बहुसत्त्वघातिनः अमी जीवन्तः गुरु पापं उपार्जयन्ति'—बहुत जीवोंको मारनेवाले यह पापी जीते रहेंगे तो बहुत पाप उत्पन्न करेंगे इस प्रकार 'इति अनुकम्पां कृत्वा हिंस्राः शरीरिणः न हिंसनीयाः' दया करके हिंसक जीवोंको भी न मारे ।

भावार्थः—शिकारी, चिड़ीमार, बाज इत्यादि जो जो हिंसक हैं वे जीवित रहेंगे तो बहुत पाप करेंगे और अनेक जीवोंको मारेंगे इसलिए इनको मार देना चाहिए—ऐसा श्रद्धान नही करना, क्योंकि उनकी हिंसा-वृत्तिका पाप उनको ही है, अपनेको क्या ? यदि हो सके तो उनकी उस पापक्रियाको छुड़ा देना ॥८४॥

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम् ।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥८५॥

अन्वयार्थः—[तु] और [बहुदुःखासंज्ञपिताः] 'अनेक दुःखोसे पीड़ित जीव [अचिरेण] थोड़े ही समयमें [दुःखविच्छित्तिम्] दुःखोंका अन्त [प्रयान्ति] पा जावेंगे' [इति वासनाकृपाणीं] इस प्रकारकी वासना अथवा विचाररूपी तलवार [आदाय] लेकर [दुःखिनः अपि] दुःखी जीवोको भी [न हन्तव्याः] नही मारना चाहिए ।

टीकाः—'तु बहुदुःखासंज्ञपिताः अचिरेण दुःखविच्छित्तिम् प्रयान्ति'—यह जीव बहुत दुःखसे पीड़ित हैं अतः यदि इन्हे मार दिया जाय तो उनका सारा दुःख दूर हो जायेगा। 'इति वासनाकृपाणीं आदाय दुःखिनः अपि न हन्तव्याः'—ऐसी खोटी वासनारूपी तलवार ग्रहण करके दुःखी जीवोंको भी नहीं मारना चाहिए ।

भावार्थः—यह जीव रोगसे अथवा दरिद्रता आदिसे अत्यन्त दुःखी है, यदि इसे मार दें तो उस दुःखसे वह मुक्त हो जावेगा, ऐसी श्रद्धा नहीं करना चाहिए। मनुष्य और तिर्यंचकी आयु पुण्यके उदयसे बड़ी होती है अतः उसका छेद नहीं करना। अथवा जैसा उसका उदय है वैसा भोगता है, आप हिंसा करके पाप क्यों उत्पन्न करे ॥८५॥

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥८६॥

अन्वयार्थः—[सुखावाप्तिः] 'सुखकी प्राप्ति [कृच्छ्रेण] कष्टसे होती है अतः [हताः] मारनेमें आए हुए [सुखिनः] सुखी जीव [सुखिनः एव] परलोकमें सुखी ही [भवन्ति] होंगे' [इति] इस प्रकार [तर्कमण्डलाग्रः] कुतर्ककी तलवार [सुखिनां घाताय] सुखी जीवोंके घातके लिए [नादेयः] अंगीकार नहीं करना चाहिए।

टीकाः—'कृच्छ्रेण सुखावाप्तिः'—कष्टसे सुखकी प्राप्ति होती है 'सुखिनः हताः सुखिनः एव भवन्ति'—इसलिये सुखी जीवोंको मारा जाय तो वे परलोकमें भी सुखी ही होंगे, 'सुखिनां घाताय इति तर्कमण्डलाग्रः न आदेयः'—सुखी जीवोंके घातके लिए इस प्रकारका विचार किसीको नहीं करना चाहिए।

भावार्थः—सुख कष्टसे होता है। इसलिये इन सुखी जीवोंको काशीके करवत इत्यादि रीतिसे मारा जाय तो परलोकमें भी वह सुखी होंगे—ऐसा श्रद्धान नहीं करना चाहिये। इस प्रकार मरने या मारनेसे सुखी कैसे हो सकते है? सुखी तो सत्यधर्मके साधनसे हो सकते हैं ॥८६॥

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्यभूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलषिता ॥८७॥

अन्वयार्थः—[सुधर्मं अभिलषिता] सत्यधर्मके अभिलाषी [शिष्येण] शिष्य द्वारा [भूयसः अभ्यासात्] अधिक अभ्याससे [उपलब्धि सुगतिसाधनसमाधिसारस्य] ज्ञान और सुगति करनेमें कारणभूत समाधिके सारको प्राप्त करनेवाले [स्वगुरोः] अपने गुरुका [शिरः] मस्तक [न कर्त्तनीयम्] नही काटना चाहिये।

टीकाः—'सुधर्मं अभिलषिता शिष्येण स्वगुरोः शिरं न कर्त्तनीयम्'—धर्मके चाहनेवाले शिष्यको अपने गुरुका मस्तक नही काटना चाहिये। कैसा है गुरु? 'भूयसः अभ्यासात्

उपलब्धि सुगति साधन समाधिसारस्य'—बहुत अभ्याससे जिसने सुगतिके कारणभूत समाधिका सार पा लिया है।

भावार्थः—हमारा गुरु अभ्यासमें लग गया है (ध्यान–समाधिमें मग्न है), अभ्यास बहुत किया, अब यदि इसके प्राणोंका अन्त कर दिया जाय तो वह उच्च पदको प्राप्त हो जायेगा—ऐसा विचार करके शिष्यको अपने गुरुका मस्तक काटना योग्य नही है। उसने जो साधन किया है उसके फलको वह भविष्यमें प्राप्त करेगा ही, तू हिंसा करके पाप किसलिये उत्पन्न करता है ॥८७॥

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम् ।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम् ॥८८॥

अन्वयार्थः—[धनलवपिपासितानां] थोड़े धनका लोभी और [विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्] शिष्योंको विश्वास उत्पन्न करनेके लिये दर्शानेवाला [खारपटिकानाम्] खारपटिकोंका [झटितिघटचटकमोक्षं] शीघ्र घड़ा फूटनेसे चिड़ियाके मोक्षकी तरह मोक्षका [नैवश्रद्धेयं] श्रद्धान नही करना चाहिए ।

टीकाः—'खारपटिकानाम् झटितिघटचटकमोक्षं नैव श्रद्धेयं'—एक खारपटिक मत है, वह तत्काल घड़ेके पक्षीके मोक्षसमान मोक्ष कहता है, उसका श्रद्धान नहीं करना ।

भावार्थः—कोई खारपटिक नामका मत है, उसमें मोक्षका स्वरूप ऐसा कहते है कि जिस प्रकार घड़ेमें पक्षी कैद है, यदि उस घड़ेको फोड़ डाला जाय तो पक्षी बंधन रहित मुक्त हो जाय । उसी प्रकार आत्मा शरीरमें बन्द है, यदि शरीरका नाश कर दिया जाय तो आत्मा बन्धन रहित–मुक्त हो जाय । ऐसा श्रद्धान नही करना चाहिए क्योंकि यह श्रद्धान हिंसाका कारण है । अन्तरंग कार्माण शरीरके बन्धन सहित आत्मा इस तरह मुक्त कैसे हो सकता है ? कैसा है खारपटिक ? 'धनलवपिपासितानाम्'—थोड़ासा धनका लोभी है । तथा कैसा है ? 'विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्'—शिष्योंको विश्वास दिलानेके लिये कितनी ही रीतियाँ दिखलाता है । अतः इसके कथनका श्रद्धान नही करना ॥८८॥

दृष्ट्वापरं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम् ।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि ॥८९॥

अन्वयार्थः—[च] और [अशनाय] भोजनके लिये [पुरस्तात्] पास [आयान्तम्] आये हुए [अपरं] अन्य [क्षामकुक्षिम्] भूखे पुरुषको [दृष्ट्वा] देखकर [निजमांसदानरभसात्] अपने शरीरका मांस देनेकी उत्सुकतासे [आत्मापि] अपना भी [न आलभनीयः] घात नहीं करना चाहिए।

टीकाः—'च अशनाय आयान्तं क्षामकुक्षिं पुरस्तात् दृष्ट्वा निजमांसदानरभसात् आत्मा अपि न आलभनीयः'—भोजन लेनेके लिए आए हुए दुर्बल उदरवाले मनुष्यको अपने समक्ष देखकर अपने मांस देनेके उत्साहसे—उतावलीसे अपने शरीरका भी घात नहीं करना।

भावार्थः—कोई मांसभक्षी जीव भोजनके लिये अपने पास आया, उसे देखकर उसके लिये अपने शरीरका भी घात नही करना, कारण कि मांसभक्षी पात्र नहीं है, मांसका दान उत्तम दान नहीं है ॥८९॥

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्यगुरून् ।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसा विशुद्धमतिः ॥९०॥

अन्वयार्थः—[नयभङ्गविशारदान्] नयके भङ्गोंको जाननेमें प्रवीण [गुरून्] गुरुओंकी [उपास्य] उपासना करके [विदितजिनमतरहस्यः] जैनमतका रहस्य जाननेंवाला [को नाम] ऐसा कौन [विशुद्धमतिः] निर्मल बुद्धिधारी है जो [अहिंसां श्रयन्] अहिंसाका आश्रय लेकर [मोहं] मूढ़ताको [विशति] प्राप्त होवे ?

टीकाः—'नाम नयभङ्गविशारदान् गुरून् उपास्य कः मोहं विशति'—हे जीव,. नयके भेदोंको जाननेमें प्रवीण गुरुकी सेवा करके कौन जीव मोहको प्राप्त होगा ? अर्थात् कोई नही होगा।

भावार्थः—जीवको भले-बुरे हित-अहितका श्रद्धान गुरुके उपदेशसे होता है। पूर्वोक्त अश्रद्धानी कुगुरुके बहकानेसे यह जीव अन्यथा प्रवर्त्तन करता है। परन्तु जिस जीवने सर्व नयके ज्ञाता परम गुरुकी सेवा की है वह भला कैसे भ्रममें पड़ सकता है ? कदापि नही पड़ सकता। कैसा है वह जीव ? 'विदितजिनमतरहस्यः'—जिसने जैनमतका रहस्य जान लिया है। और कैसा है वह जीव ? 'अहिंसां श्रयन्'—(सर्वज्ञ वीतराग कथित) दया ही को धर्मका स्वरूप जानकर जिसने अंगीकार किया है। और कैसा है ? 'विशुद्धमतिः'—जिसकी बुद्धि निर्मल है ऐसा जीव मोहको प्राप्त नही होता। इस प्रकार दया धर्मको दृढ़ करके अहिसा व्रतका वर्णन किया ॥९०॥

सत्यव्रत

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि ।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥९१॥

अन्वयार्थः—[यत्] जो [किमपि] कुछ [प्रमादयोगात्] प्रमाद कषायके योगसे [इदं] यह [असदभिधानं] स्व–परको हानिकारक अथवा अन्यथारूप वचन [विधीयते] कहनेमें आता है [तत्] उसे [अनृतं अपि] निश्चयसे असत्य [विज्ञेयम्] जानना चाहिए [तद्भेदाः] उसके भेद [चत्वारः] चार [सन्ति] हैं।

टीकाः—'यत् किमपि प्रमादयोगात् इदं असत् अभिधानं विधीयते तत् अनृतं अपि विज्ञेयम्'—जो कुछ प्रमाद सहित योगके हेतुसे असत्य अर्थात् बुरा अथवा अन्यथारूप वचन है उसे निश्चयसे अनृत जानो। 'तद्भेदाः चत्वारः सन्ति'—उस असत्य वचनके चार भेद है ॥९१॥

वह आगे कहे जा रहे हैं। उनमें प्रथम भेद कहते हैः—

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु ।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥९२॥

अन्वयार्थः—[यस्मिन्] जिस वचनमें [स्वक्षेत्रकालभावैः] अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे [सत्अपि] विद्यमान होने पर भी [वस्तु] वस्तुका [निषिध्यते] निषेध करनेमें आता है [तत्] वह [प्रथमम्] प्रथम [असत्यं] असत्य [स्यात्] है [यथा] जैसे [अत्र] 'यहाँ [देवदत्तः] देवदत्त [नास्ति] नहीं है'।

टीकाः—'यस्मिन् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत् अपि वस्तु निषिध्यते तत् प्रथमं असत्यं स्यात्'—जिस वचनमें अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत्तारूपमें विद्यमान पदार्थका भी निषेध करनेमें आये, कि पदार्थ नही है; यह प्रथम भेदरूप असत्य है। दृष्टान्त कहते हैं—'यथा अत्र देवदत्तः नास्ति'—जैसे यहाँ देवदत्त नही है।

भावार्थः—किसी क्षेत्रमें देवदत्त नामका पुरुष बैठा था, वहाँ किसीने पूछा कि यहाँ देवदत्त है? तो उत्तर दिया कि यहाँ देवदत्त नही है। इसी प्रकार अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे जो वस्तु अस्तिरूप हो उसे नास्तिरूप कहना असत्यका प्रथम भेद है। अस्ति वस्तुको नास्तिरूप कहना वह। जो कुछ वह पदार्थ है उसे द्रव्य, जिस क्षेत्रको

रोककर तिष्ठे उसे क्षेत्र, जिस कालमें जिस रीतिसे परिणमन करे उसे काल तथा उस पदार्थका जैसा कुछ निजभाव है उसे भाव कहते हैं। इस अपने चतुष्टयकी अपेक्षासे सर्व पदार्थ अस्तित्वरूप हैं। वहाँ देवदत्तका निजचतुष्टय तो था ही परन्तु नास्तिरूप जो कथन हुआ वही असत्य वचन हुआ ॥९२॥

आगे दूसरा भेद कहते हैं:—

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः ॥९३॥

अन्वयार्थः—[हि] निश्चयसे [यत्र] जिस वचनमें [तैः परक्षेत्रकालभावैः] उन परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे [असत् अपि] अविद्यमान होने पर भी [वस्तुरूपं] वस्तुका स्वरूप [उद्भाव्यते] प्रगट करनेमें आवे [तत्] वह [द्वितीयं] दूसरा [अनृतम्] असत्य [स्यात्] है [यथा] जैसे [अस्मिन्] यहाँ [घटः अस्ति] घड़ा है।

टीकाः—'हि यत्र तैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः वस्तुरूपं असत् अपि उद्भाव्यते तत् द्वितीयं अनृतं'—निश्चयसे जिस वचनमें परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे पदार्थ सत्तारूप नहीं है तो भी वहाँ प्रगट करना वह दूसरा असत्य है। उसका दृष्टान्त–'यथा अस्मिन् घटः अस्ति'—जैसे कि यहाँ घड़ा है।

भावार्थः—किसी क्षेत्रमें घड़ा तो था नही इसलिए उस समय उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी नही था। दूसरा पदार्थ था अतः उस समय उसीका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव था। किसीने पूछा कि यहाँ घड़ा है कि नही? वहाँ 'घड़ा है' ऐसा कह देना दूसरे असत्यका भेद है। क्योंकि नास्तिरूप वस्तुको अस्ति कहा ॥९३॥

आगे तीसरा भेद कहते हैं:—

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः ॥९४॥

अन्वयार्थः—[च] और [यस्मिन्] जिस वचनमें [स्वरूपात्] अपने चतुष्टयसे [सत् अपि] विद्यमान होने पर भी [वस्तु] पदार्थ [पररूपेण] अन्य स्वरूपसे [अभिधीयते] कहनेमें आता है उसे [इदं] यह [तृतीयं अनृतं] तीसरा असत्य

[विज्ञेयं] जानो [यथा] जैसे [गौः] बैलको [अश्वः] घोड़ा है [इति] ऐसा कहना।

टीकाः—'च यस्मिन् सत् अपि वस्तु पररूपेण अभिधीयते इदं तृतीयं अनृतं विज्ञेयं'— जिस वचनमें यद्यपि पदार्थ अपने चतुष्टयमें विद्यमान है तथापि उस पदार्थको अन्य पदार्थरूपसे कथन किया जाय उसे तीसरा असत्य जानो। उसका उदाहरणः—यथा गौ: अश्वः—जैसे बैलको घोड़ा कहना।

भावार्थः—किसी क्षेत्रमें बैल अपने चतुष्टयमें स्थित था वहाँ किसीने पूछा कि यहाँ क्या है ? तो ऐसा कहनेमें आया कि यहाँ घोड़ा है। यह असत्यका तीसरा भेद है। वस्तुको अन्यरूप कहना ॥९४॥

आगे चौथा भेद कहते हैं:—

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।
सामान्येन त्रेधा मतिमदमनृतं तुरीयं तु ॥९५॥

अन्वयार्थः—[तु] और [इदं] यह [तुरीयं] चौथा [अनृतं] असत्य [सामान्येन] सामान्यरूपसे [गर्हितं] गर्हित [अवद्यसंयुतम्] पाप सहित [अपि] और [अप्रियं] अप्रिय इस तरह [त्रेधा] तीन प्रकारका [मतम्] माना गया है। [यत्] जो कि [वचनरूपं] वचनरूप [भवति] है।

टीकाः—'तु इदं तुरीयं अनृतं सामान्येन त्रेधा मतम्—यत् अपि वचनरूपं गर्हितं अवद्यसंयुतं अप्रियं भवति'—यह चौथा असत्यका भेद तीन प्रकारका है। (१) वचनसे निन्दाके शब्द कहना, (२) हिंसा सहित वचन बोलना, (३) अप्रिय अर्थात् दूसरेको बुरे लगे ऐसे वचन बोलना ॥९५॥

आगे तीन भेदोंमें प्रथम ही गर्हितका स्वरूप कहते हैं:—

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमशमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥९६॥

अन्वयार्थः—[पैशून्यहासगर्भं] दुष्टता अथवा निन्दारूप हास्यवाला [कर्कशं] कठोर [असमञ्जसं] मिथ्या-श्रद्धानवाला [च] और [प्रलपितं] प्रलापरूप (बकवाद) तथा [अन्यदपि] और भी [यत्] जो [उत्सूत्रं] शास्त्रविरुद्ध वचन है [तत्सर्वं] वह सभी [गर्हितं] निन्द्यवचन [गदितम्] कहा गया है।

टीका:—'यत् वचनं पैशून्यहासगर्भं कर्कशं असमंजसम् प्रलपितं च अन्यत् अपि उत्सूत्रं तत् गर्हितं गदितम्'—जिस वचनमें दुष्टता हो, अन्य जीवका बुरा करनेवाला हो, अपनेको रौद्रध्यान करानेवाला हो, तथा हास्यमिश्रित हो, दूसरे जीवका मर्मछेदक हो, स्वयंको प्रमादकारक हो, कर्कश–कठोर हो अर्थात् सुननेमें बुरा लगे, असमंजस—मिथ्याश्रद्धा करानेवाला हो, और अप्रमाणरूप हो, तथा अन्य भी शास्त्र–विरुद्ध वचन गर्हित वचनमें गर्भित समझना।

आगे अवद्यसंयुक्त असत्यका स्वरूप लिखते हैं:—

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्त्तन्ते ॥९७॥

अन्वयार्थ:—[यत्] जो [छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि] छेदन, भेदन, मारण, शोषण, व्यापार या चोरी आदिके वचन हैं [तत्] वे सब [सावद्यं] पापयुक्त वचन है [यस्मात्] क्योंकि यह [प्राणिवधाद्याः] प्राणी–हिंसा आदि पापरूप [प्रवर्तन्ते] प्रवर्तन करते है।

टीका:—'यत् छेदन भेदन, मारण कर्षण वाणिज्य चौर्य वचनादि तत् सर्वं सावद्यं अस्ति यस्मात् प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते'—जो नाक आदि छेदनेके, काटनेके, मारनेके, खींचनेके, (हिंसक) व्यापार करनेके, अथवा परवस्तुको चोरी करने आदिके वचन कहनेमें आवे वे सभी सावद्य (पाप) सहित झूठका स्वरूप हैं क्योंकि इनसे प्राणियोंका घात होता है।

भावार्थ:—अवद्यका अर्थ पाप है, अत: जिस वचनसे पापकी प्रवृत्ति हो उसे सावद्य कहते है ॥९७॥

आगे अप्रिय असत्यका स्वरूप कहते हैं:—

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥९८॥

अन्वयार्थ:—[यत्] जो वचन [परस्य] दूसरे जीवको [अरतिकरं] अप्रीति-कारक [भीतिकरं] भयकारक [खेदकरं] खेदकारक [वैरशोककलहकरं] वैर शोक तथा कलहकारक हो और जो [अपरमपि] अन्य जो भी सन्तापकारक हो [तत्] वह [सर्वं] सर्व ही [अप्रियं] अप्रिय [ज्ञेयम्] जानना चाहिये।

टीकाः—'यत् वचनं परस्य अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरं तथा अपरमपि तापकरं तत्सर्वं अप्रियं ज्ञेयम्'—जो वचन दूसरोंको अरति करनेवाला अर्थात् बुरा लगनेवाला हो, भय उत्पन्न करनेवाला हो, खेद उत्पन्न करनेवाला हो, तथा वैर शोक और कलह करनेवाला हो तथा और भी अनेक प्रकारके दुःख उत्पन्न करनेवाला हो वह सभी वचन अप्रिय झूठका भेद है ॥९८॥

आगे असत्य वचनमें हिंसाका सद्भाव दिखलाते हैंः—

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत् ।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥९९॥

अन्वयार्थः—[यत्] चूंकि [अस्मिन्] इन [सर्वस्मिन्नपि] सभी वचनोंमें [प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं] प्रमाद सहित योग ही एक हेतु कहनेमें आया है [तस्मात्] इसलिये [अनृतवचने] असत्य वचनमें [अपि] भी [हिंसा] हिंसा [नियतं] निश्चितरूपसे [समवतरति] आती है ।

टीकाः—'यत् अस्मिन् सर्वस्मिन् अपि अनृतवचने प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं अस्ति तस्मात् अनृतवचने हिंसा नियतं समवतरति'—अर्थः—इन सभी प्रकारके झूठ वचनोंमें प्रमादयोग ही कारण है इसलिये झूठ वचन बोलनेमें हिंसा अवश्य ही होती है । कारण कि हिंसा प्रमादसे ही होती है । प्रमादके विना हिंसा नही होती । जहाँ प्रमाद नही होता वहाँ हिंसा भी नही होती । और जहाँ प्रमाद है वहाँ हिंसा अवश्य होती है । तत्त्वार्थसूत्रमें हिंसाका लक्षण 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'—ऐसा कहा है अर्थात् प्रमादके योगसे प्राणोंका घात करना हिंसा है ॥९९॥

प्रमादसहित योग हिंसाका कारणः—

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥१००॥

अन्वयार्थः—[सकलवितथवचनानाम्] समस्त झूठ वचनोंका [प्रमत्तयोगे] प्रमादसहित योग [हेतौ] हेतु [निर्दिष्टे सति] निर्दिष्ट करनेमें आया होनेसे [हेयानुष्ठानादेः] हेय-उपादेय आदि अनुष्ठानोंका [अनुवदनं] कहना [असत्यं] झूठ [न भवति] नहीं है ।

टीका:—'सकलवितथ वचनानाम् प्रमत्तयोगे हेतौ निर्दिष्टे सति हेयानुष्ठानादेः अनुवदनं असत्यं न भवति'—अर्थ:—समस्त झूठ वचनोका कारण प्रमादसहित योगको बताकर हेय और उपादेयका बारम्बार कथन करना झूठ नही है।

भावार्थ:—असत्य वचनके त्यागी महामुनि हेय और उपादेयका बारम्बार उपदेश करते है। वहाँ पापकी निन्दा करने पर पापी जीवोंको उनका उपदेश अप्रिय लगता है अथवा कोई जीव अपने लिए दिये गए धर्मोपदेशको सुनकर दुःख पाते है परन्तु उन आचार्योको असत्यका दोष नहीं लगता क्योंकि उनके वचन प्रमाद (कषाय) गर्भित नही हैं। प्रमादपूर्वक वचनमें ही हिंसा है इसीलिये कहा है कि प्रमादसहित योगसे वचन बोलना वही झूठ है, अन्यथा नही ॥१००॥

इसके त्यागका प्रकार:—

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम् ।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥१०१॥

अन्वयार्थ:—[ये] जो जीव [भोगोपभोगसाधनमात्रं] भोग-उपभोगके साधन मात्र [सावद्यम्] सावद्यवचन [मोक्तुम्] छोड़नेमें [अक्षमाः] असमर्थ हैं [ते अपि] वे भी [शेषम्] बाकीके [समस्तमपि] सभी [अनृतं] असत्य भाषणका [नित्यमेव] निरन्तर [मुञ्चन्तु] त्याग करें।

टीका:—'ये अपि भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यम् मोक्तुम् अक्षमाः (सन्ति) ते अपि शेषं समस्तम् अपि अनृतं नित्यं एव मुञ्चन्तु'—अर्थ:—जो प्राणी अपने न्यायपूर्वक भोगोपभोगके कारणभूत सावद्य (हिंसासहित) वचन त्यागनेमें असमर्थ हैं उन्हें भी अन्य समस्त झूठ वचनोंका सदाकाल त्याग करना चाहिये।

भावार्थ:—झूठका त्याग दो प्रकारका है। एक सर्वथा त्याग, दूसरा एकदेश त्याग। सर्वथा त्याग तो मुनिधर्ममें ही बनता है तथा एकदेश त्याग श्रावकधर्ममें होता है। जो सर्वथा त्याग बन सके तब तो बहुत ही उत्तम है, यदि कदाचित् कषायके उदयसे (अर्थात् कषायवश) सर्वथा त्याग न बन सके तो एकदेश त्याग तो अवश्य ही करना चाहिये। कारण कि श्रावक अवस्थामें झूठके अन्य सर्व भेदोंका त्याग करता है परन्तु सावद्य झूठका त्याग नही हो सकता, किन्तु वहाँ भी अपने भोग उपभोगके निमित्त ही झूठ वचन-सावद्यवचन हो परन्तु बिना प्रयोजन न बोले ॥१०१॥

तीसरे स्तेय (चौर्य) पापका वर्णनः—

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत् ।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥१०२॥

अन्वयार्थः—[यत्] जो [प्रमत्तयोगात्] प्रमादकषायके योगसे [अवितीर्णस्य] बिना दिये [परिग्रहस्य] स्वर्ण वस्त्रादि परिग्रहका [ग्रहणं] ग्रहण करना है [तत्] उसे [स्तेयं] चोरी [प्रत्येयं] जानना चाहिये । [च] और [सा एव] वही [वधस्य] वधका [हेतुत्वात्] कारण होनेसे [हिंसा] हिंसा है ।

टीकाः—'यत् प्रमत्तयोगात् अवितीर्णस्य परिग्रहस्य ग्रहणं तत् स्तेयं प्रत्येयं, च सैव हिंसा (भवति) वधस्य हेतुत्वात्'—अर्थः—प्रमादके योगसे बिना दिये हुए स्वर्ण वस्त्रादि परिग्रहका ग्रहण करना चोरी कहलाता है । (स्वर्णादिक वस्तुको स्वामीकी आज्ञाके बिना चुरा लेना, भुला लेना, पड़ी हुई उठा लेना, जबरदस्ती ले लेना अथवा जिस तिस प्रकार बिना दिये ले लेना चोरी है ।) और वही चोरी हिंसा है क्योंकि अपने तथा परजीवके प्राणघातका कारण है ।

भावार्थः—अपनेको चोरी करनेका भाव हुआ वह भावहिंसा है और जो कोई अपनेको चोर जानले तो प्राणोंका वियोग करे वही द्रव्यहिंसा है । तथा जिस जीवकी वस्तु चोरी गई उसे जो अन्तरङ्ग पीड़ा हुई वही उसकी भावहिंसा है और उस वस्तुके निमित्तसे उस जीवके द्रव्यप्राण पुष्ट थे उन पुष्ट प्राणोंके नाश होनेसे उसके द्रव्यप्राण पीड़ित हुए वही उसकी द्रव्यहिंसा है । इस प्रकार चोरी करनेसे चोरी करनेवालेकी, तथा जिसकी चोरी हुई है उसकी, द्रव्य और भाव दोनों प्रकारकी हिंसायें होती हैं ॥१०२॥

चोरी प्रगटरूपसे हिंसा हैः—

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम् ।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥

अन्वयार्थः—[यः] जो [जनः] मनुष्य [यस्य] जिस जीवके [अर्थान्] पदार्थों अथवा धनको [हरति] हर लेता है [सः] वह मनुष्य [तस्य] उस जीवके [प्राणान्] प्राणोंको [हरति] हर लेता है, क्योंकि जगतमें [ये] जो [एते] यह [अर्थानाम]

धनादि पदार्थ प्रसिद्ध हैं [एते] वे सभी [पुंसां] मनुष्योंके [बहिश्चराः प्राणाः] बाह्य प्राण [सन्ति] हैं।

टीकाः—'ये एते अर्थानाम एते पुंसाम् बहिश्चराः प्राणाः सन्ति यस्मात् यः जनः यस्य अर्थान् हरति स तस्य प्राणान् हरति'—यह जो भी पदार्थ है वह मनुष्यके बाह्य प्राण हैं, इसलिए जो जीव जिस किसीका धन हरण कर लेता है, चुरा लेता है वह उसके प्राणोंका ही हरण कर लेता है।

भावार्थः—धन, धान्य, सम्पत्ति, बैल, घोड़ा, दास, दासी, घर, जमीन, पुत्र, स्त्री, वस्त्रादि जितने भी पदार्थ जिस जीवके पास है उतने ही उसके बाह्यप्राण हैं। उन पदार्थोंमेंसे किसी एक भी पदार्थका नाश होने पर अपने प्राणघात जैसा दुःख उत्पन्न होता है इसीलिये पदार्थोंको ही प्राण कहा जाता है। जैसे, 'अन्नं वै प्राणाः' इति वचनात्—अन्न ही प्राण है इस वचनके अनुसार ॥१०३॥

हिंसा और चोरीमें अव्यापकता नहीं, किन्तु व्यापकता हैः—

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटमेव सा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥१०४॥

अन्वयार्थः—[हिंसायाः] हिंसामें [च] और [स्तेयस्य] चोरीमें [अव्याप्तिः] अव्याप्तिदोष [न] नही है [सा सुघटमेव] वह हिंसा बराबर घटित होती है [यस्मात्] कारण कि [अन्यैः] दूसरेके द्वारा [स्वीकृतस्य] स्वीकृत की हुई [द्रव्यस्य] द्रव्यके [ग्रहणे] ग्रहणमे [प्रमत्तयोगः] प्रमादका योग है।

टीकाः—'हिंसायाः स्तेयस्य अव्याप्तिः न सा सुघटमेव यस्मात् अन्यैः स्वीकृतस्य द्रव्यस्य ग्रहणे प्रमत्तयोगः भवति'—अर्थः—हिंसा और चोरीमें अव्याप्तिपना नही है बल्कि भले प्रकार व्यापकपना है क्योंकि दूसरे जीवने प्राप्त किये पदार्थोंमें अपनेपनकी कल्पना करनेमें प्रमादयोग ही मुख्य कारण है।

भावार्थः—यदि किसी जीवको किसी कालमें (जिस समय) जहाँ चोरी है वहाँ हिंसा न हो तो अव्याप्तिदूषण हो सकता है किन्तु प्रमाद बिना चोरी बनती नहीं। प्रमादका नाम ही हिंसा है और चोरीमें प्रमाद अवश्य है ही, इसलिये ऐसा सिद्ध हुआ कि जहाँ जहाँ चोरी है वहाँ वहाँ अवश्य ही हिंसा है ॥१०४॥

हिंसा और चोरीमें अतिव्याप्तिपना भी नहीं है:—

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् ।
अपि कर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ॥१०५॥

अन्वयार्थः—[च] और [नीरागाणाम्] वीतरागी पुरुषोंके [प्रमत्तयोगैककारण-विरोधात्] प्रमत्तयोगरूप एक कारणके विरोधसे [कर्म्मानुग्रहणे] द्रव्यकर्म नोकर्मकी कर्मवर्गणाओंको ग्रहण करनेमें [अपि] निश्चयसे [स्तेयस्य] चोरीकी [अविद्यमानत्वात्] अनुपस्थितिसे [तयोः] उन दोनोंमें अर्थात् हिंसा और चोरीमें [अतिव्याप्तिः] अति-व्याप्ति भी [न] नहीं है ।

टीकाः—'च तयोः (हिंसा स्तेययोः) अतिव्याप्तिः च न अस्ति यतः नीरागाणां प्रमत्तयोगैककारण विरोधात् कर्मानुग्रहणे अपि हिंसायाः अविद्यमानत्वात्'—अर्थः—हिंसा और चोरीमे अतिव्याप्तिपना भी नही है अर्थात् चोरी हो और हिंसा न हो ऐसा नही है, तथा हिंसा हो और चोरी न हो ऐसा भी नही है क्योंकि वीतरागी महापुरुषोंके प्रमादसहित योगका कारण नहीं है इसीलिये द्रव्यकर्म—नोकर्मकी वर्गणाओंका ग्रहण होते हुए भी, प्रमाद न होनेसे, चोरीका सद्भाव नही है ।

भावार्थः—बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण चोरी है । वीतरागी अर्हन्त भगवानके कर्म—नोकर्म वर्गणाओंका ग्रहण होता है और वे वर्गणायें किसीकी दी हुई नही है वहाँ उनके चोरीका प्रसंग आता परन्तु प्रमाद और योग विना चोरी नहीं कहलाती । प्रमादयोग है वही हिंसा है इसलिये अतिव्याप्तिपना नही है । यदि हिंसा प्रमाद विना चोरी हो सकती होती तो अतिव्याप्ति दोष आता, परन्तु वह तो वहाँ है नहीं । अतः यह बात सिद्ध हुई कि जहाँ चोरी है वहाँ हिंसा है इसलिये अव्याप्ति नही और जहाँ हिंसा नही वहाँ चोरी भी नही तथा जहाँ चोरी नही वहाँ हिंसा भी नही इस वास्ते अतिव्याप्ति नहीं इसलिये चोरी हिंसा रूप ही है ॥१०५॥

चोरीके त्यागका प्रकार:—

असमर्था ये कर्त्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् ।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥१०६॥

अन्वयार्थः—[ये] जो जीव [निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्] दूसरेके कुआँ, बावड़ी आदि जलाशयोंका जल इत्यादि ग्रहण करनेके त्याग [कर्त्तुम्] करनेमें [असमर्था]

असमर्थ हैं [तैः] उन्हें [अपि] भी [अपरं] अन्य [समस्तं] सर्व [अदत्तं] बिना दी हुई वस्तुओंके ग्रहण करनेका [नित्यम्] हमेशा [परित्याज्यम्] त्याग करना योग्य है।

टीका:—'ये (जीवाः) निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् कर्त्तुम् असमर्थाः तैः (जीवैः) अपि नित्यं समस्तं अपरं अदत्तं परित्याज्यम्'—जो जीव पीनेरूप कुआँ नदी बावड़ी आदिके जलसे लेकर मिट्टी आदि वस्तुओं–जो सामान्य जनताके उपयोगके लिए होती है—के ग्रहणका त्याग करनेमें अशक्त है उन्हें भी हमेशा दूसरेके द्वारा दी हुई वस्तुओंके अलावा अन्य समस्त वस्तुओके ग्रहणका त्याग करना चाहिए।

भावार्थः—चोरीका त्याग भी दो प्रकारसे है। एक सर्वथा त्याग और दूसरा एकदेश त्याग। सर्वथा त्याग तो मुनिधर्ममें ही होता है अतः वह बन सके तो अवश्य करना। यदि कदाचित् न बने तो एकदेश त्याग तो अवश्य ही करना चाहिये। श्रावक कुआँ नदी आदिका पानी–खानकी मिट्टी इत्यादि किसीके बिना पूछे भी ग्रहण करले तो उसका नाम चोरी नही है और यदि मुनि उन्हें ग्रहण करले तो चोरी कहलायेगी ॥१०६॥

कुशील (अब्रह्म)का स्वरूपः—

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥१०७॥

अन्वयार्थः—[यत्] जो [वेदरागयोगात्] वेदके रागरूप योगसे [मैथुनं] स्त्री–पुरुषोंका सहवास [अभिधीयते] कहा जाता है [तत्] वह [अब्रह्म] अब्रह्म है और [तत्र] उस सहवासमें [वधस्य] प्राणिवधका [सर्वत्र] सर्व स्थानमें [सद्भावात्] सद्भाव होनेसे [हिंसा] हिंसा [अवतरति] होती है।

टीका:—'यत् वेदरागयोगात् मैथुनं अभिधीयते तत् अब्रह्म भवति तत्र हिंसा अवतरति (यतः) सर्वत्र वधस्य सद्भावात्'—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेदके परिणमनरूप रागभाव सहित योगसे मैथुन अर्थात् स्त्री–पुरुषका मिलकर कामसेवन करना कुशील है—(अब्रह्म है) उस कुशीलमें हिंसा उत्पन्न होती है। कारण कि कुशील करने और करवानेवालेके सर्वत्र हिंसाका सद्भाव है।

भावार्थः—स्त्रीको योनि, नाभि, कुच और काँखमें मनुष्याकार संमूर्च्छन पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते है इसलिये स्त्रीके साथ सहवास करनेमें द्रव्यहिंसा होती है तथा स्त्री

और पुरुष दोनोंके कामरूप परिणाम होते है जिससे भावहिंसा होती है। शरीरकी शिथिलतादिके निमित्तसे अपने द्रव्यप्राणका घात होता है। परजीव स्त्री या पुरुषके विकारी परिणामका कारण है अथवा उसको पोड़ा उत्पन्न होती है, उसके परिणाम विकारी होते है इससे अन्य जीवके भावप्राणका घात होता है तथा मैथुनमें बहुत जीव मरते हैं इस तरह अन्य जोवोंके द्रव्यप्राणका घात होता है।

मैथुनमें प्रगटरूप हिंसा है:—

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् ।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥१०८॥

अन्वयार्थः—[यद्वत्] जैसे [तिलनाल्यां] तिलसे भरी हुई नलीमें [तप्तायसि विनिहिते] गरम लोहेकी शलाका डालनेसे [तिलाः] तिल [हिंस्यन्ते] भुन जाते हैं [तद्वत्] वैसे ही [मैथुने] मैथुनके समय [योनौ] योनिमें भी [बहवो जीवाः] बहुतसे जीव [हिंस्यन्ते] मर जाते हैं।

टीकाः—'यद्वत् तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते (सति) तिलाः हिंस्यन्ते तद्वत् योनौ मैथुने (कृते सति) बहवो जीवाः हिंस्यन्ते'—जैसे तिलोंसे भरी हुई बाँसकी नलीमें अत्यन्त गरम की हुई लोहेकी शलाका डाली जाय तो सब तिल भुन जाते है उसी प्रकार स्त्रीके अंगमें पुरुषके अंगसे मैथुन करने पर योनिगत सर्व जीव तुरन्त ही मरणको प्राप्त होते है। यही प्रगटरूपसे द्रव्यहिसा है ॥१०८॥

कोई कहे कि अनङ्गक्रीड़ामें तो हिंसा नहीं होती। उससे कहते हैं:—

यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि ।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥१०९॥

अन्वयार्थः—और [अपि] तदुपरान्त [मदनोद्रेकात्] कामकी उत्कटतासे [यत् किञ्चित्] जो कुछ [अनंगरमणादि] अनंगक्रीड़ा [क्रियते] की जाती है [तत्रापि] उसमें भी [रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्] रागादिकी उत्पत्तिके कारण [हिंसा] हिंसा [भवति] होती है।

टीकाः—'यत् अपि मदनोद्रेकात् अनंगरमणादि किंचित् क्रियते तत्रापि हिंसा भवति रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्'—जो जीव तीव्र चारित्रमोह कर्मके उदयसे (उदयमें संयुक्त होनेसे) तीव्र कामविकार होनेके कारण अनंगक्रीड़ा (काम सेवन करने योग्य अंगोंको

छोडकर अन्य अंगों द्वारा क्रीड़ा) करता है वहाँ भी हिंसा होती है। कारण कि हिंसाका होना रागादिकी उत्पत्तिके आधीन है। यदि रागादि न हों तो हिंसा कभी नहीं हो सकती। राग तीव्र न हो तो कामक्रीड़ा क्यों करे ? इससे सिद्ध हुआ कि अनंग-क्रीड़ामें भी हिंसा होती है ॥१०९॥

कुशीलके त्यागका क्रम

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥११०॥

अन्वयार्थः—[ये] जो जीव [मोहात्] मोहके कारण [निजकलत्रमात्रं] अपनी विवाहिता स्त्रीको ही [परिहर्तुं] छोड़नेमें [हि] निश्चयसे [न शक्नुवन्ति] समर्थ नहीं है [तैः] उन्हें [निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं अपि] बाकीकी समस्त स्त्रियोंका सेवन तो कदापि [न] नहीं [कार्यम्] करना चाहिए।

टीकाः—'ये (जीवाः) हि मोहात् निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं हि न शक्नुवन्ति तैरपि निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं न कार्यम्'—जो जीव अप्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीयके उदयसे (उदयवश) अपनी विवाहिता स्त्रीको छोड़नेमें समर्थ नहीं हैं उन्हें भी (अपनी विवाहिता स्त्रीके अलावा) संसारकी अन्य समस्त स्त्रियोंके साथ कामसेवन नही करना चाहिए और अपनी विवाहिता स्त्रीमें ही सन्तोष रखना चाहिये। यह एकदेश ब्रह्मचर्यव्रत है। सर्वथा त्याग तो मुनि धर्ममें है। स्त्री मात्रके साथ कामसेवन करनेका त्याग करना महाव्रत है ॥११०॥

परिग्रह पापका स्वरूप

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥१११॥

अन्वयार्थः—[इयं] यह [या] जो [मूर्च्छा नाम] मूर्च्छा है [एषः] इसे ही [हि] निश्चयसे [परिग्रहः] परिग्रह [विज्ञातव्यः] जानना चाहिये [तु] और [मोहोदयात्] मोहके उदयसे [उदीर्णः] उत्पन्न हुआ [ममत्वपरिणामः] ममत्वरूप परिणाम ही [मूर्च्छा] मूर्च्छा है।

टीकाः—'या इयं मूर्च्छा नाम हि एषः परिग्रहः विज्ञातव्यः तु (पुनः) मोहोदयात् उदीर्णः ममत्वपरिणाम मूर्च्छा (अस्ति)'—हे भव्य जीवो ! इस मूर्च्छाको ही निश्चयसे

परिग्रह जानो । मूर्च्छा किसे कहते हैं ? चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे उदयको प्राप्त हुआ जो ममत्वपरिणाम (अर्थात् यह मेरा है ऐसा परिणाम) है वही मूर्च्छा है ।।१११।।

ममत्वपरिणाम ही वास्तविक परिग्रह है इस बातको दृढ़ करते हैं:—

मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः ।।११२।।

अन्वयार्थः—[परिग्रहत्वस्य] परिग्रहपनाका [मूर्च्छालक्षणकरणात्] मूर्च्छा लक्षण करनेसे [व्याप्तिः] व्याप्ति [सुघटा] भले प्रकारसे घटित होती है क्योंकि [शेषसंगेभ्यः] अन्य परिग्रह [विना अपि] बिना भी [मूर्च्छावान्] मूर्च्छा करनेवाला पुरुष [किल] निश्चयसे [सग्रन्थः] बाह्य परिग्रह सहित है ।

टीकाः—'परिग्रहत्वस्य मूर्च्छालक्षणकरणात् व्याप्तिः सुघटा (यतः) किल शेषसंगेभ्यः विना अपि मूर्च्छावान् सग्रन्थः भवति'—परिग्रहभावका लक्षण मूर्च्छा किया उसमें व्याप्ति भले प्रकार बनती है क्योंकि धन, धान्यादि बाह्य परिग्रह बिना भी ममत्वपरिणामवाला जीव परिग्रह सहित होता है ।

भावार्थः—साहचर्यके नियमको व्याप्ति कहते हैं अर्थात् जहाँ लक्षण हो वहाँ लक्ष्य भी हो उसका नाम व्याप्ति है । इसलिये जहाँ जहाँ मूर्च्छा है वहाँ वहाँ परिग्रह अवश्य है और जहाँ मूर्च्छा नही है वहाँ परिग्रह भी नही है । मूर्च्छाकी परिग्रहके साथ व्याप्ति है । कोई जीव नग्न है, बाह्य परिग्रहसे रहित है, परन्तु यदि अन्तरंगमें मूर्च्छा अर्थात् ममत्वपरिणाम है तो वह परिग्रहवान ही है और एक ममत्वके त्यागी दिगम्बर मुनिके पींछी, कमण्डलरूप बाह्य परिग्रह होने पर भी अन्तरंगमें ममत्व नही है इसलिए वह वास्तविक परिग्रहसे रहित ही है ।।११२।।

शंकाकारकी शंका

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरंगः ।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ।।११३।।

अन्वयार्थः—[यदि] जो [एवं] ऐसा है अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह होवे [तदा] तो [खलु] निश्चयसे [बहिरंग परिग्रहः] बाह्य परिग्रह [कः अपि] कुछ भी नही

सिद्ध होता, तो ऐसा नहीं है [यतः] क्योंकि [असौ] यह बाह्य परिग्रह [मूर्च्छा-निमित्तत्वम्] मूर्च्छाके निमित्तपनेको [नितरां] अतिशय रूपसे [धत्ते] धारण करता है।

टीकाः--प्रश्न—खलु यदि एवं भवति तदा बहिरंगः कोऽपि परिग्रहः न (स्यात्) उत्तर—यः असौ (बहिरंग) नितरां मूर्च्छानिमित्तत्वं धत्ते—यहाँ कोई तर्क करता है कि यदि निश्चयसे मूर्च्छाका नाम ही परिग्रह है तो फिर धन-धान्यादि बाह्य वस्तु परिग्रह नहीं ठहरी। इनको परिग्रह किसलिये कहते हो ? श्रीगुरु उत्तर देते हैः—यह धन-धान्यादि तो अत्यन्तरूपसे परिग्रह है क्योंकि बाह्य वस्तु ही मूर्च्छाका कारण है।

भावार्थः—परिग्रहका लक्षण तो मूर्च्छा ही है। परन्तु बाह्य धन-धान्यादि वस्तु मूर्च्छा उत्पन्न करनेके लिए (निमित्त) कारण है इसलिए उसे भी परिग्रह कहा जाता है ॥११३॥

शंकाकारकी शंका

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ॥११४॥

अन्वयार्थः—[एवं] इस प्रकार [परिग्रहस्य] बाह्य परिग्रहकी [अतिव्याप्तिः] अतिव्याप्ति [स्यात्] होती है [इति चेत्] यदि ऐसा कहते हो तो [एवं] ऐसा [न भवेत्] नही होता [यस्मात्] कारण कि [अकषायाणां] कषायरहित अर्थात् वीतरागी पुरुषोको [कर्मग्रहणे] कार्मणवर्गणाके ग्रहणमे [मूर्च्छा] मूर्च्छा [नास्ति] नही है।

टीकाः—'एवं परिग्रहस्य अतिव्याप्तिः स्यात् इति चेत् न एवं भवेत् यस्मात् अकषायाणां कर्मग्रहणे मूर्च्छा नास्ति'—

अर्थः—यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जो परिग्रहको मूर्च्छा उत्पन्न करनेका निश्चयकारण कहते हो तो (मूर्च्छा परिग्रह.) इस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष आता है क्योंकि अर्हन्त अवस्थामें भी कार्मणवर्गणा तथा नोकर्मवर्गणा—इन दोनोके ग्रहणरूप परिग्रह है वहाँ भी मूर्च्छा हो जायेगी। तो ऐसा नही है, कारण कि कषायरहित जीवोके कर्म-नोकर्मका ग्रहण होने पर भी मूर्च्छा अर्थात् ममत्वपरिणाम नही है।

भावार्थः—अतिव्याप्ति तो तब हो जब निष्परिग्रही वीतरागी महापुरुषोके मूर्च्छा हो, किन्तु वह तो उनके होती नही, अत: अर्हन्त वीतरागी भगवानके कर्म-नोकर्मका ग्रहण होने पर भी मूर्च्छाके अभावसे परिग्रह नही कहलाती इसलिए अतिव्याप्ति दोष

नहीं है। बाह्य वस्तु मूर्च्छा उत्पन्न करनेमें कारणमात्र है इसलिए उसको उपचारसे परिग्रह कह दिया है। परमार्थसे तो परिग्रहका लक्षण मूर्च्छा ही है ॥११४॥

परिग्रहके भेद

अतिसंक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ॥११५॥

अन्वयार्थः—[स] वह परिग्रह [अतिसंक्षेपात्] अत्यन्त संक्षेपसे [आभ्यन्तरः] अन्तरंग [च] और [बाह्यः] बहिरंग [द्विविधः] दो प्रकारका [भवेत्] है [च] और [प्रथमः] पहला अन्तरंग परिग्रह [चतुर्दशविधः] चौदह प्रकारका [तु] तथा [द्वितीयः] दूसरा बहिरंग परिग्रह [द्विविधः] दो प्रकारका [भवति] है।

टीकाः—'स (परिग्रहः) अति संक्षेपात् द्विविधः आभ्यन्तरः बाह्यश्च प्रथमः (आभ्यन्तरः) चतुर्दशविधः भवति द्वितीयस्तु द्विविधः भवति'—अर्थः—वह परिग्रह संक्षेपमें दो प्रकारका है। पहला आभ्यन्तर, दूसरा बाह्य। अन्तरंग आत्माके परिणामको आभ्यन्तर परिग्रह कहते हैं और बाहरके सभी पदार्थोंको बाह्य परिग्रह कहते है। पहला परिग्रह चौदह प्रकारका है तथा दूसरा बाह्य परिग्रह दो प्रकारका है ॥११५॥

आभ्यन्तर परिग्रहके चौदह भेद

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥११६॥

अन्वयार्थः—[मिथ्यात्ववेदरागाः] मिथ्यात्व, स्त्री, पुरुष, और नपुंसक वेदका राग [तथैव च] इसी तरह [हास्यादयः] हास्यादि अर्थात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा यह [षड् दोषाः] छह दोष [च] और [चत्वारः] चार अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी और संज्वलन यह चार [कषायाः] कषायभाव—इस भाँति [आभ्यन्तराः ग्रन्थाः] अन्तरंग परिग्रह [चतुर्दश] चौदह हैं।

टीकाः—'आभ्यन्तराः ग्रन्थाः मिथ्यात्ववेदरागाः तथैव हास्यादयः षट् दोषाः च चत्वारः कषायाः—चतुर्दश (भवन्ति),—अर्थः—आभ्यन्तर परिग्रह १४ प्रकारका है। (१) मिथ्यात्व (तत्त्वार्थका अश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव), (२) पुरुषवेद (स्त्री अभिलाषारूप परिणाम), (३) स्त्रीवेद (पुरुषके अभिलाषारूप परिणाम), (४) नपुंसक-

वेद (स्त्री-पुरुष दोनोंके अभिलाषरूप परिणाम), (५) हास्य, (६) रति, (७) अरति, (८) शोक, (९) भय, (१०) जुगुप्सा, (११) क्रोध (१२) मान, (१३) माया, (१४) लोभ यह १४ आभ्यन्तर परिग्रह है ।।११६।।

बाह्य परिग्रहके दो भेद कहकर उसे हिंसामय बताते हैं:—

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
नैषः कदापि संगः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम् ।।११७।।

अन्वयार्थः—[अथ] इसके बाद [बाह्यस्य] बहिरंग [परिग्रहस्य] परिग्रहके [निश्चित्तसचित्तौ] अचित्त और सचित्त यह [द्वौ] दो [भेदौ] भेद है [एषः] यह [सर्वः अपि] सभी [सङ्ग] परिग्रह [कदापि] किसी भी समय [हिंसाम्] हिंसाका [न अतिवर्तते] उल्लंघन नही करते अर्थात् कोई भी परिग्रह कभी भी हिंसा रहित नही है ।

टीकाः—'अथ बाह्यस्य परिग्रहस्य निश्चित्त सचित्तौ द्वौ भेदौ (भवतः) एषः सर्वोऽपि (परिग्रहः) संगः हिंसाम् कदापि न अतिवर्तते'—अर्थः—बाह्य परिग्रह अचेतन और चेतनके भेदसे दो प्रकारका है । सोना, चाँदी, मकान, वस्त्रादि चेतनारहित पदार्थ अचित्त तथा पुत्र, कलत्र, दासी, दासादि चेतनासहित पदार्थ सचित्त कहे जाते हैं । यह दोनों ही प्रकारके परिग्रह हिसाका उल्लंघन नहीं करते अर्थात् कोई परिग्रह हिंसा बिना नहीं है ।।११७।।

हिंसा अहिंसाका लक्षण कहकर इसी अर्थको दृढ़ करते हैं:—

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति ।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ।।११८।।

अन्वयार्थः—[जिनप्रवचनज्ञाः] जैन सिद्धान्तके ज्ञाता [आचार्याः] आचार्य [उभयपरिग्रहवर्जनं] दोनों प्रकारके परिग्रहके त्यागको [अहिंसा] अहिंसा [इति] ऐसा और [द्विविध परिग्रहवहनं] दोनों प्रकारके परिग्रह धारण करनेको हिसा ऐसा [सूचयन्ति] सूचित करते-कहते है ।

टीकाः—'जिनप्रवचनज्ञाः आचार्याः उभयपरिग्रहवर्जनं अहिंसा (भवति) इति सूचयन्ति तथा द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसा (भवति) इति सूचयन्ति'—जैन सिद्धान्तके ज्ञाता आचार्य, 'दोनो प्रकारके अन्तरंग और बाह्य परिग्रहका त्याग करना ही अहिंसा है तथा दोनों

प्रकारके परिग्रहका धारण करना ही हिंसा है' ऐसा कहते हैं। परिग्रहके त्याग बिना अहिंसाकी सिद्धि नही है ॥११८॥

दोनों परिग्रहोंमें हिंसा है ऐसा बताते हैं:—

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरंगसंगेषु ।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम् ॥११९॥

अन्वयार्थः—[हिंसापर्यायत्वात्] हिंसाकी पर्यायरूप होनेसे [अन्तरंगसंगेषु] अन्तरंग परिग्रहोंमें [हिंसा] हिंसा [सिद्धा] स्वयंसिद्ध है [तु] और [बहिरंगेषु] बहिरंग परिग्रहोंमें [मूर्च्छा] ममत्वपरिणाम [एव] ही [हिंसात्वम्] हिसाभावको [नियतम्] निश्चयसे [प्रयातु] प्राप्त होता है ।

टीकाः—'अन्तरंगसंगेषु हिंसापर्यायत्वात् हिंसा सिद्धा तु (पुनः) बहिरंगेषु नियतं मूर्च्छैव हिंसात्वं प्रयातु'—अन्तरंग १४ प्रकारके परिग्रहोंके सभी भेद हिंसाकी पर्याय होनेसे हिंसा सिद्ध ही है। बहिरंग परिग्रहमें निश्चयसे ममत्वपरिणाम है वह हिंसाको प्राप्त होता है ।

भावार्थः—अन्तरंग परिग्रह जो मिथ्यात्वादि १४ प्रकारका है वह सभी जीवका विभाव (विकारी) परिणाम है इसलिये वह हिंसा ही है परन्तु बाह्यवस्तुमें भी निश्चयसे ममत्वपरिणाम है वही हिंसाका कारण है। बाह्यवस्तुमें जो ममत्वपरिणाम है उसीका नाम परिग्रह है। केवली भगवानके समवशरणादि विभूति होती है परन्तु ममत्वपरिणाम विना परिग्रह नहीं है। अथवा यदि कोई परिग्रहको अंगीकार करके कहे कि मेरे तो ममत्वपरिणाम नहीं है तो यह बात झूठ है कारण कि ममत्व विना अंगीकार होता ही नही ॥११९॥

यदि बहिरंग पदार्थमें ममत्वपरिणामका होना ही परिग्रह है तो सभीमें समान रूपसे ही परिग्रहजन्य पापबन्ध होना चाहिए:—

एवं न विशेषः स्यादुन्दुररिपुहरिणशावकादीनाम् ।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छाविशेषेण ॥१२०॥

अन्वयार्थः—[एवं] यदि ऐसा ही हो अर्थात् बहिरंग परिग्रहमें ममत्वपरिणामका नाम ही मूर्च्छा हो तो [उन्दुररिपुहरिणशावकादीनाम्] बिल्ली और हरिणके बच्चे वगैरहमें [विशेषः] कोई विशेषता [न स्यात्] न रहे, परन्तु [एवं] ऐसा [न भवति]

नही है, क्योंकि [मूर्च्छाविशेषेण] ममत्वपरिणामोंकी विशेषतासे [तेषां] उस बिल्ली और हरिणके बच्चे इत्यादि जीवोंमें [विशेषः] विशेषता है, अर्थात् समानता नहीं है।

टीकाः—प्रश्नः—'यदि एवं तर्हि उन्दुरुरिपु–हरिणशावकादीनाम् विशेषः न'।

उत्तरः—एवं न भवति–तेषां मूर्च्छाविशेषेण विशेषः भवति'—यहाँ कोई शंका करता है कि जो बाह्यपदार्थमे ही ममत्वपरिणाम हिंसाका कारण है और वह ममत्वपरिणाम सामान्य रीतिसे सभी जीवोके होता है अत सभी जीवोंके समान पाप होना चाहिये। जिस प्रकार मांसाहारी बिल्ली और घास खानेवाले हिरनके बच्चेमें भोजन करने संबंधी ममत्वपरिणाम सामान्यरूपसे समान ही है, (बहिरङ्गका कुछ प्रयोजन कहा नही)। इसके उत्तरमें आचार्य भगवान उससे कहते है कि बात वास्तवमें ऐसी नही है। बिल्ली और हिरनके बच्चोंकी बाबतमें भी विशेषता है, समानता नहीं है। क्योंकि बिल्लीके तो माँस खानेके परिणाम है और हिरनके बच्चेके घास खानेके परिणाम हैं। बस, ममत्वकी विशेषता–अधिकतासे ही विशेषता है ॥१२०॥

ममत्व–मूर्च्छामें विशेषता

हरिततृणांकुरचारिणिमन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा।
उन्दुरुनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ॥१२१॥

अन्वयार्थः—[हरिततृणाङ्कुरचारिणि] हरी घासके अंकुर खानेवाले [मृगशावके] हरिणके बच्चेमें [मूर्च्छा] मूर्च्छा [मन्दा] मन्द [भवति] होती है और [स एव] वही मूर्च्छा [उन्दुरुनिकरोन्माथिनि] चूहोके समूहका उन्मथन करनेवाली [मार्जारे] बिल्लीमें [तीव्रा] तीव्र [जायते] होती है।

टीकाः—'हरिततृणाङ्कुरचारिणि मृगशावके मन्दा मूर्च्छा भवति तथा सैव मूर्च्छा उन्दुरुनिकरोन्माथिनि मार्जारे तीव्रा जायते'—अर्थः—हरी घासका खानेवाला हिरणका बच्चा है उसे खास खानेमे भी ममत्व बहुत थोड़ा है और चूहोंके समूहको खानेवाली बिल्लीको चूहे खानेमें बहुत तीव्र ममत्व है। बस, यही इन दोनोमे विशेषता है।

भावार्थः—प्रथम तो हिरणके बच्चेको हरी घासमें अधिक लालसा नही है, फिर उसे खानेमें बहुत सरागता भी नही है तथा खाते समय यदि किंचित् भी भय मालूम पड़े तो तत्काल छोड़कर भाग खड़ा होता है। इससे ज्ञात होता है कि उसके आसक्ति–ममत्वपरिणाम बहुत तीव्र नहीं है। चूहोके समूहको मारनेवाली विल्लीको चूहे खानेकी

लालसा बहुत है और चूहोंको मारनेके पश्चात् उन्हें खानेमें सरागता भी विशेष है तथा जिस समय वह चूहोंको खा रही हो उस समय उसके ऊपर लाठीकी चोटें भी पड़े तो भी बड़ी मुश्किलसे ही उसे छोड़ती है, इससे ज्ञात होता है कि हरिणके बच्चे और बिल्लीको मूर्च्छामें बहुत अन्तर है। इसी भाँति बहुत आरम्भ-परिग्रहवाले तथा अल्प आरम्भ-परिग्रहवाले जीवोमे भी परिणामोंका अन्तर जानना ॥१२१॥

आगे इस प्रयोजनको सिद्ध करते हैं:—

निर्बाधं संसिध्येत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात् ।
औधस्यखण्डयोरिह माधुर्य्यप्रीतिभेद इव ॥१२२॥

अन्वयार्थः—[औधस्यखण्डयोः] दूध और खांड में [माधुर्य्यप्रीतिभेदः इव] मधुरताके प्रीतिभेदकी तरह [इह] इस लोकमें [हि] निश्चयसे [कारणविशेषात्] कारणकी विशेषतासे [कार्यविशेषः] कार्यकी विशेषता [निर्बाध] बाधारहित [संसिध्येत्] भले प्रकारसे सिद्ध होती है।

टीका:—'हि कारणविशेषात् कार्यविशेषः निर्बाधं संसिध्येत् यथा औधस्यखण्डयोः इह माधुर्य्यप्रीतिभेदः इव भवति'—अर्थ:—निश्चयसे कारणकी विशेषता होनेसे कार्यकी विशेषता होती है। जैसे गायके दूधमें और खांडमें कम-बढ़ मिठास होनेके कारण कम-बढ़ प्रीति होती है। गायके थनके ऊपर जो दूध रहनेकी थैली होती है उसे औध कहते हैं, उसमें उत्पन्न होनेवाली वस्तुको औधस अर्थात् दूध कहते है।

भावार्थः—ऐसा नियम है कि जैसा कारण हो वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है। जैसे दूधमें मिठास कम है और शक्करमें अधिक है इसलिये दूधमें प्रीति कम होती है और शक्करमें विशेष होती है ॥१२२॥

आगे इसके उदाहरणको प्रगट करते हैं:—

माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये ।
सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥१२३॥

अन्वयार्थः—[किल] निश्चयसे [मन्दमाधुर्ये] थोड़ी मिठासवाले [दुग्धे] दूधमें [माधुर्यप्रीतिः] मिठासकी रुचि [मन्दा] थोड़ी [एव] ही [व्यपदिश्यते] कहनेमें आती है और [सा एव] वही मिठासकी रुचि [उत्कटमाधुर्ये] अत्यन्त मिठासवाली [खण्डे] खांडमें [तीव्रा] अधिक कहनेमें आती है।

टीका:—'किल मन्दमाधुर्ये दुग्धे माधुर्यप्रीतिः मन्दा व्यपदिश्यते तथा सैव माधुर्यप्रीतिः उत्कटमाधुर्ये खण्डे तीव्रा व्यपदिश्यते'—अर्थ:—निश्चयसे थोड़ी मिठासवाले दूधमें मिष्टरसकी रुचिवाले पुरुषको रुचि बहुत थोड़ी होती है और अधिक मिठासवाली शक्करमें उसी पुरुषको रुचि अत्यधिक होती है।

भावार्थः—जैसे कोई मनुष्य मिष्टरसका अभिलाषी है तो उसको दूधमें रुचि कम होती है और खाँडमें रुचि अधिक होती है उसी प्रकार जिस पुरुषके जितना ही पदार्थोंमें ममत्वभाव होगा वह पुरुष उतना ही हिंसाका भागीदार होगा, अधिकका नहीं। भले उसके पास वह पदार्थ उपस्थित हो अथवा न हो। यहाँ कोई बहुत आरम्भ–परिग्रह करनेवाला जीव कहता है कि हमारे ममत्वभाव नहीं है, बाह्यमें परिग्रह अधिक है तो क्या हुआ? तो ऐसा नहीं बन सकता। क्योंकि जो ममत्वभाव न होता तो बाह्य परिग्रह एकत्र ही किसलिये किया? और जो बाह्य परिग्रह होने पर भी कोई पुरुष यदि ममत्वका त्यागी हो तो वह उन बाह्य पदार्थोंको क्षणमात्रमें छोड़ सकता है। इसलिये सिद्ध हुआ कि ममत्वभाव बिना बाह्य पदार्थोंका संग्रह नही हो सकता। जैसे जैसे अपना ममत्वभाव बढ़ता जाता है वैसे वैसे अपने लिए बाह्य पदार्थोंका संग्रह भी करता जाता है। ऐसा नही हो सकता कि बाह्य परिग्रह तो अंगीकार करता जाय और कहे कि मेरे अन्तरङ्गमें ममत्वभाव नही है। हिंसामें तो ऐसा बनता है कि बाह्य हिंसा हो जाय और अन्तरङ्ग शुद्ध रहे अर्थात् किसीको भावहिंसाके बिना भी द्रव्यहिंसा तो हो सकती है[1] परन्तु बाह्य पदार्थोंका संग्रह अर्थात् परिग्रहका अंगीकार ममत्वभावके बिना नही हो सकता ।।१२३।।

परिग्रह त्याग करनेका उपाय

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः ।।१२४।।

अन्वयार्थः—[प्रथमम्] पहले [एव] ही [तत्त्वार्थाश्रद्धाने] तत्त्वार्थके अश्रद्धानमें जिसने [निर्युक्तं] सयुक्त किया है ऐसा [मिथ्यात्वं] [2]मिथ्यात्व [च] और

---

१ जैसा कि हिंसाके प्रकरणमें कहा गया है कि यदि किसी पुरुषसे बाह्य हिंसा हो जाय और उसके परिणाम उस हिंसा करनेके न हों तो वह पुरुष हिंसाका भागीदार नहीं होता।

२ मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, और सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व।

[सम्यग्दर्शनचौराः] सम्यग्दर्शनके चोर [चत्वारः] चार [प्रथमकषायाः] पहले कषाय अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ हैं ।

टीकाः—'प्रथमं तत्त्वार्थाश्रद्धाने मिथ्यात्वं निर्युक्तं-एवं मिथ्यात्वं च चत्वारः प्रथमकषायाः सम्यग्दर्शनचौराः सन्ति'—अर्थः—पहले तत्त्वार्थके मिथ्याश्रद्धानमें जिसको संयुक्त किया है अर्थात् पहला मिथ्यात्व नामका अन्तरंग परिग्रह है और पहली चौकड़ी अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान–माया–लोभ यह चार हैं । इस प्रकार सम्यग्दर्शनके यह पाँच चोर हैं । जबतक इनका नाश नही होता तबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता ।

भावार्थः—यहाँ यह बताया जा रहा है कि इन १४ प्रकारके अन्तरङ्ग परिग्रहोंका त्याग किस रीतिसे किया जावे । प्रथम ही यह जीव जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है तब मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चौकड़ीका नाश करता है । अनादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा तो पाँचका नाश होता है और सादि (मिथ्यादृष्टि)की अपेक्षा सातका नाश होता है । यह दो भेद अन्तरंग परिग्रहके हुए । भावार्थः—यह कि पहले ही यह जीव मिथ्यात्व नामक परिग्रहका त्याग करता है, तत्त्वार्थका श्रद्धान न होना ही मिथ्यात्व है । पश्चात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभको भी उसी तत्त्वार्थके अश्रद्धानके साथ विदा कर देता है, क्योंकि यह चारों ही सम्यक्त्वके चोर हैं, इनकी उपस्थितिमें सम्यग्दर्शन रह नहीं सकता । इसी वास्ते अनन्त संसारका कारण जानकर इनका नाम अनन्तानुबंधी रखा है । इनकी वासना भी अनन्तकाल तक रहती है) ।।१२४।।

आगे अवशेष भेद बताते हैं:—

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायातः ।
नियतं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति ।।१२५।।

अन्वयार्थः—[च] और [द्वितीयान्] दूसरे कषाय अर्थात् अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध–मान–माया–लोभको [प्रविहाय] छोड़कर [देशचरित्रस्य] देशचारित्रके [सन्मुखायातः] सन्मुख आता है [हि] कारण कि [ते] वे [कषायाः] कषाय [नियतं] निश्चितरूपसे [देशचरित्रं] एकदेश चारित्रको [निरुन्धन्ति] रोकते हैं ।

टीकाः—'च श्रावकाः द्वितीयान् अप्रत्याख्यान क्रोधादीन् चतुष्कान् प्रविहाय देशचरित्रस्य सन्मुखायातः भवन्ति हि ते कषायाः नियतं देशचरित्रं निरुन्धन्ति'—अर्थः—

सम्यग्दृष्टि श्रावक उन, [1]अप्रत्याख्यानावरण क्रोध–मान–माया–लोभ–,चार कषायोंका नाश करके एकदेश चारित्रके सन्मुख होता है अर्थात् ग्रहण करता है। कारण कि निश्चयसे वही अप्रत्याख्यानावरणादि चारों देशचारित्र–श्रावकके व्रतोंका घात करते हैं। इस तरह यह तीसरा भेद अन्तरंग परिग्रहका हुआ ॥१२५॥

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम् ।
कर्त्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादिभावनया ॥१२६॥

अन्वयार्थः—इसलिये [**निजशक्त्या**] अपनी शक्तिसे [**मार्दवशौचादिभावनया**] मार्दव, शौच, संयमादि दशलक्षण धर्म द्वारा [**शेषाणां**] अवशेष [**सर्वेषाम्**] सभी [**अन्तरङ्गसङ्गानाम्**] अन्तरंग परिग्रहोंका [**परिहारः**] त्याग [**कर्त्तव्यः**] करना चाहिये।

टीकाः—'**शेषाणां सर्वेषाम् अन्तरङ्गसङ्गानाम् निजशक्त्या मार्दव शौचादि भावनया परिहारः कर्त्तव्यः**'—**अर्थः**—अवशेष सभी प्रकारके अन्तरंग परिग्रह हैं उनको, अपनी शक्ति अनुसार अपने कोमल परिणाम तथा सन्तोषरूपी धर्म भावनासे त्याग करना अर्थात् यथाक्रम सबका त्याग करना।

भावार्थः—अन्तरंग परिग्रह १४ प्रकारका है। उनके नाम इसी ग्रन्थके श्लोक नं० ११६ में बताए गए है। मिथ्यात्व, ४ चौकड़ीरूप चार कषाय, तथा ९ [2]हास्यादि नोकषाय–इस तरह १४ भेद है। इनका क्रमपूर्वक त्याग करना। इनमेसे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी ४ कषाय है वह सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्रका घात करती है। अप्रत्याख्यानावरणी नामक चार कषाय है वह देशचारित्रका घात करती हैं अर्थात् श्रावकपद नही होने देती। प्रत्याख्यानावरणी नामक चार कषाय सकलसयमका घात करती है अर्थात् मुनिपद नही होने देती। (प्रत्याख्यान सर्वथा त्यागको कहते है) तथा संज्वलनादि ४ तथा हास्यादि ६ और वेद ३–यह सभी

---

१ अप्रत्याख्यानावरण–अ=ईषत्-थोड़ा, प्रत्याख्यान=त्यागको आवरण=आच्छादित करनेवाला।

२ नोकषाय=१ हास्य, २ रति, ३ अरति, ४ शोक, ५ भय, ६ जुगुप्सा (ग्लानि), ७ स्त्रीवेद, ८ पुरुषवेद, ९ नपुंसकवेद।

यथाख्यातचारित्रके घातमें निमित्त हैं। (निजशक्तिके बलसे) इस प्रकार इन सभी व्रतोंको क्रमपूर्वक धारण करके, अन्तरंग परिग्रहको क्रमपूर्वक छोड़ना चाहिये। ।।१२६।।

बाह्य परिग्रहके त्यागका क्रम

बहिरङ्गादपि सङ्गात् यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ।।१२७।।

अन्वयार्थः—[वा] तथा [तम्] उस बाह्य परिग्रहको [अचित्तं] भले ही वह अचेतन हो [वा] या [सचित्तं] सचेतन हो [अशेषं] सम्पूर्णरूपसे [परिवर्जयेत्] छोड़ देना चाहिए [यस्मात्] कारण कि [बहिरङ्गात्] बहिरंग [सङ्गात्] परिग्रहसे [अपि] भी [अनुचितः] अयोग्य अथवा निन्द्य [असंयमः] असंयम [प्रभवति] होता है।

टीकाः—'यस्मात् बहिरङ्गात् अपि संगात् अनुचितः असंयमः भवति तस्मात् तं अचित्तं सचित्तं वा अशेषं परिग्रहं परिवर्जयेत्'—अर्थः—चूंकि बाह्य धन-धान्यादि परिग्रहसे भी महान असंयम होता है अर्थात् जबतक परिग्रह रहता है तबतक संयमका भले प्रकार पालन नहीं हो सकता इसलिये वह बाह्य परिग्रह भले ही अजीव हो या सजीव हो-दोनों ही प्रकारका परिग्रह त्याग करने योग्य है।

भावार्थः—बाह्य परिग्रहमें संसारके सभी पदार्थ प्रायः आ जाते हैं। इसलिए बाह्य परिग्रहके सजीव और अजीव ऐसे दो भेद किए है। रुपया, पैसा, खेती आदि अजीव परिग्रह हैं, और हाथी, घोड़ा, बैल, नौकर, चाकर आदि सजीव परिग्रह हैं। इनका भी त्याग एकदेश और सर्वदेश होता है ।।१२७।।

जो सर्वदेश त्याग न कर सकें वे एकदेश त्याग करें

योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वं ।।१२८।।

अन्वयार्थः—[अपि] और [यः] जो [धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः] धन, धान्य, मनुष्य, गृह, सम्पदा इत्यादि परिग्रह [त्यक्तुम्] सर्वथा छोड़ना [न शक्यः] शक्य न

हो [सः] तो उसे [अपि] भी [तनू] न्यून [करणीयः] कर देना चाहिये [यतः] कारण कि [निवृत्तिरूपं] [1]त्यागरूप ही [तत्त्वम्] वस्तुका स्वरूप है।

टीकाः—'योऽपि मनुष्यः धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः त्यक्तुम् न शक्तः सोऽपि मनुष्यः धनधान्यादिकः तनूकरणीयः यतः तत्त्वं निवृत्तिरूपं अस्ति'—अर्थः—जो प्राणी धन (गाय भैंस आदि), धान्य (गेहूँ यवादि अन्न), मनुष्यादि (पुत्रादिक अथवा दासादिक), वास्तु (मकानादि), वित्त (सोना–चाँदी–रुपया आदि) इत्यादि समस्त वहिरंग (दस प्रकारका) परिग्रहको सर्वथा छोड़नेमें अशक्त हो, उसे उसमेंसे थोड़ा परिग्रह रखनेका परिमाण करना चाहिए, कारण कि तत्त्व त्यागरूप ही है।

भावार्थः—वहिरंग परिग्रह मूलतः सजीव और अजीवके भेदसे दो प्रकारका है। दोनोंके दश भेद है। क्षेत्र, मकान, चाँदी, सोना, धन–चार पगवाले पशु, वस्त्र, पात्र, अनाज, [2]दासी, दास इत्यादि बाह्य परिग्रहके दश भेद हैं। इनका यदि सम्पूर्ण त्याग न कर सके तो (जितना अपने पास वर्तमानमें विद्यमान हो उसमेंसे जितना बन सके उतना कम कर देना) अपनी आवश्यकतानुसार परिमाण करके ही परिग्रह रखना और शेपका त्याग करे, कारण कि तत्त्व त्यागरूप है। जबतक यह आत्मा [3]त्याग–धर्मका आचरण नही करता है तबतक उसे मोक्ष नही मिल सकता। निवृत्ति नाम भी मोक्षका ही है। इस प्रकार हिंसादि पाँचों पापोंका विस्तृत वर्णन किया।।१२८।।

---

१ तत्त्व निवृत्तिरूप है उसका अर्थ—प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावसे सदा परिपूर्ण ही है और परद्रव्यादिसे शून्य अर्थात् निवृत्तिरूप ही है। वर्तमान अशुद्ध दशामें परद्रव्यके आलम्बनसे रागी जीवको बाह्यसामग्रीके प्रति ममत्वरूप राग भूमिकानुसार होता है उसका स्वाश्रयके बलसे त्याग करानेके लिए बाह्यपदार्थके त्यागका उपदेश है। वास्तवमें तो आत्माके परवस्तुका त्याग ही है। किन्तु जो कुछ राग, ममत्वभाव है उसके त्यागरूप निर्मल परिणाम जितने अंशोंमें होते हैं उतने ही अंशोंमें रागादिकी उत्पत्ति ही नहीं होती। जहाँ ऐसा होवे वहाँ उस जीवको परवस्तुके त्यागका कर्ता कहना वह उस जातिके अभावरूप निमित्तका ज्ञान करानेके लिए असद्भूत व्यवहारनयका कथन है। (निश्चय सम्यग्दर्शन विना अज्ञानीके हठरूप त्यागको व्यवहारसे भी धर्म संज्ञा नहीं होती)।

२ दासी दासादिको द्विपद=दो पैरवाला कहनेमें आता है।

३ त्यागधर्म=जिस प्रकार प्रकाशकी उत्पत्तिके बिना अँधेरा नहीं टलता, उसी प्रकार निज शुद्धात्माके आश्रयके द्वारा निर्मल श्रद्धा–ज्ञान और स्वरूपमें एकाग्रतारूप शुद्ध परिणतिकी प्राप्ति किए बिना रागका त्याग अर्थात् वीतरागी धर्मरूप मोक्षका उपाय और मोक्ष नहीं मिलता।

रात्रिभोजन त्यागका वर्णन

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा ।
हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥१२९॥

अन्वयार्थः—[यस्मात्] कारण कि [रात्रौ] रातमे [भुञ्जानानां] भोजन करनेवालेको [हिंसा] हिंसा [अनिवारिता] अनिवार्य [भवति] होती है [तस्मात्] इसलिये [हिंसाविरतैः] हिसाके त्यागियोंको [रात्रिभुक्तिः अपि] रात्रिभोजनका भी [त्यक्तव्या] त्याग करना चाहिये ।

टीकाः—'यस्मात् रात्रौ भुञ्जानानां अनिवारिता हिंसा भवति तस्मात् हिंसाविरतैः रात्रिभुक्तिः अपि त्यक्तव्याः'—अर्थः—रातमें भोजन करनेवालेको हिंसा अवश्य ही होती है क्योंकि रात्रिभोजनमें हिसाका निवारण किसी भी प्रकार नही हो सकता अतः हिंसाके त्यागियोंको रात्रिभोजनका त्याग अवश्य ही करना चाहिए ।

भावार्थः—रात्रिमें भोजन करनेसे जीवोंकी हिंसा अवश्य ही होती है । प्रायः ऐसे छोटे छोटे बहुत जीव हैं जो रातमें ही गमन करते हैं और दीपकके प्रकाशके प्रेमसे दीपकके पास आते हैं, अतः रातमें चूल्हा जलानेमें, पानी आदि भरनेमें, चक्कीसे पीसनेमें, भोजन बनानेमें नियमसे असंख्य जीवोंकी हिंसा होती है इसलिए हिंसाका त्याग करनेवाले दयालु पुरुषोंको रातमें खानेका अवश्य ही त्याग करना चाहिये ॥१२९॥

रात्रिभोजनमें भावहिंसा भी होती हैः—

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम् ।
रात्रिं दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति ॥१३०॥

अन्वयार्थः—[अनिवृत्तिः] अत्यागभाव [रागाद्युदयपरत्वात्] रागादिभावोंके उदयकी उत्कटतासे [हिंसां] हिंसाको [न–अतिवर्तते] उल्लंघन करके नहीं प्रवर्त्तते तो [रात्रिं दिवम्] रात और दिन [आहारतः] आहार करनेवालेको [हि] निश्चयमे [हिंसा] हिसा [कथं] क्यो [न संभवति] नही संभव होगी ?

टीकाः—'रागादिउदयपरत्वात् अनिवृत्तिः अत्यागः हिंसां न अतिवर्तते यतः रात्रिं दिवम् आहरतः—भुञ्जानस्य हि हिंसा कथं न संभवति ?—अपितु संभवति एव'—अर्थः—रागादिभाव उत्कृष्ट होनेके कारण रागादिका अत्यागपना हिंसाका उल्लंघन नही कर

सकता। (अर्थात् जहाँ जीवके उत्कृष्ट रागभाव होता है वहाँ त्याग नहीं हो सकता—रागभाव ही हिंसा है) अतः जहाँतक रागादिका त्याग नहीं है वहाँतक अहिंसा नहीं है, अपितु हिंसा ही है। तो फिर रात-दिन खानेवालेको हिंसा क्यों न हो ? नियमसे होती ही है। रागादिका होना ही वास्तविक हिंसाका लक्षण है ॥१३०॥

शंकाकारकी शंका

यद्येवं तर्हि दिवा कर्त्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥१३१॥

अन्वयार्थः—[यदि एवं] यदि ऐसा है अर्थात् सदाकाल भोजन करनेमें हिंसा है [तर्हि] तो [दिवा भोजनस्य] दिनमें भोजन करनेका [परिहारः] त्याग [कर्त्तव्यः] कर देना चाहिये [तु] और [निशायां] रातमें [भोक्तव्यं] भोजन करना चाहिये क्योकि [इत्थं] इस तरहसे [हिंसा] हिंसा [नित्यं] सदाकाल [न भवति] नहीं होगी।

टीकाः—'यदि एवं तर्हि दिवा भोजनस्य परिहारः कर्त्तव्यः तु निशायां भोक्तव्यं इत्थं नित्यं हिंसा न भवति'—अर्थः—यहाँ कोई तर्क करता है कि दिन और रात दोनों समय भोजन करनेसे हिंसा होती है तो दिनमें भोजनका त्याग करके रातमें ही भोजन ग्रहण करना चाहिये जिससे सदाकाल हिंसा न हो। ऐसा ही नियम किसलिये बनाया कि दिनमें ही भोजन किया जाय और रातमें न किया जाय ? ॥१३१॥

आचार्य उसका उत्तर देते हैंः—

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोऽधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥१३२॥

अन्वयार्थः—[एवं न] ऐसा नही है कारण कि [अन्नकवलस्य] अन्नके ग्रासके [भुक्तेः] भोजनसे [मांसकवलस्य] मासके ग्रासके [भुक्तौ इव] भोजनमें जिस प्रकार राग अधिक होता है उसी प्रकार [वासरभुक्तेः] दिनके भोजनकी अपेक्षा [रजनिभुक्तौ] रात्रिभोजनमें [हि] निश्चयसे [रागाधिकः] अधिक राग [भवति] होता है।

टीकाः—'हि रजनीभुक्तौ अधिकः रागः भवति वासरभुक्ते एवं न भवति यथा अन्नकवलस्य भुक्तौ मांसकवलस्य भुक्तौ इव'—अर्थः—निश्चयसे रात्रिभोजन करनेमें अधिक

रागभाव है और दिनमें भोजन करनेमें कम रागभाव है। जैसे अन्नके भोजनमें कम रागभाव है और मांसके भोजनमें अधिक रागभाव है।

भावार्थः—उदर भरनेकी अपेक्षा तो दोनों भोजन समान है। परन्तु प्रत्येक प्राणीको अन्न, दूध, घी इत्यादि खानेमें तो साधारण रागभाव है अर्थात् न्यून लोलुपता है क्योंकि अन्नका आहार तो सर्व मनुष्योंको सहज ही है इसलिये प्रायः अधिक प्राणी तो अन्नका ही भोजन करते हैं, तथा मांसके भोजनमें कामादिककी अपेक्षा अथवा शरीरके स्नेह–मोहकी अपेक्षा विशेष रागभाव होता है क्योंकि मांसका भोजन सभी मनुष्योंका स्वाभाविक–प्राकृतिक आहार नहीं है। उसी तरह दिनके भोजनमें प्रायः सभी प्राणियोंको साधारण रागभाव है क्योंकि दिवा–भोजन सर्व प्राणियोंको होता है, तथा रातके भोजनमें कामादिककी अपेक्षा तथा शरीरमें अधिक स्नेहकी अपेक्षा अधिक रागभाव है इसलिये रातका भोजन बहुत कम मनुष्योंके होता है यह स्वाभाविक बात है कि दिनमें भोजन करनेसे जितनी अच्छी तरहसे पाचन होता है और जितना अच्छा स्वास्थ्य रहता है उतना रातमें खानेसे कभी नहीं रह सकता, इसलिये रात्रिभोजनका त्याग करना चाहिये और दिनमें ही भोजन करना चाहिये। इस प्रकार शंकाकारकी शंकाका निराकरण हुआ ॥१३२॥

रात्रिभोजनमें द्रव्यहिंसा

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम् ।
अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥१३३॥

अन्वयार्थः—तथा [अर्कालोकेन विना] सूर्यके प्रकाश बिना रातमें [भुञ्जानः] भोजन करनेवाला मनुष्य [बोधितः प्रदीपे] जलते हुए दीपकमें [अपि] भी [भोज्यजुषां] भोजनमे मिले हुए [सूक्ष्मजीवानाम्] सूक्ष्म जीवोंकी [हिंसा] हिंसा [कथं] किस तरह [परिहरेत्] टाल सकता है।

टीकाः—'बोधिते प्रदीपे अपि अर्कालोकेन विना भुञ्जानः भोज्यजुषां सूक्ष्मजंतूनाम् हिंसां कथं परिहरेत्'—अर्थः—रातमे दीपक जलाने पर भी सूर्यके प्रकाशके विना रात्रिमें भोजन करनेवाला पुरुष, भोजनमें प्रीति रखनेवाले सूक्ष्म जन्तु वगैरह हैं उनकी हिंसासे नहीं बच सकता।

भावार्थः—रात्रिमें विना दीपक जलाए जो पुरुष भोजन करता है उसके आहारमें तो बड़े बड़े कूड़ा–छिपकली आदि जीव भी पड़ जावें तब भी उनका पता नहीं चलता

और यदि दीपक जलाकर सावधानी भी वर्त्ती जाय तो भी उसके भोजनमें दीपकके सम्बन्धसे तथा भोज्य-पदार्थके सम्बन्धसे आनेवाले छोटे छोटे पतंगे तथा मच्छर आदि अवश्य गिरते हैं और उनकी हिंसा भी अवश्यम्भावी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि रात्रि-भोजी मनुष्य द्रव्य और भाव दोनों प्रकारकी हिंसाओंसे बच नही सकता। अतः अहिंसाव्रत पालन करनेवालेको रात्रिभोजन अवश्य त्याग देना चाहिये। जो मनुष्य रात्रिको सिंगाड़ा आदिकी पकोड़ी पूड़ी आदि लाकरके या बनाकर खाते हैं वे भी दोनों प्रकारकी हिंसा करते हैं ।।१३३।।

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ।।१३४।।

अन्वयार्थः—[वा] अथवा [बहुप्रलपितैः] बहुत प्रलापसे [किं] क्या ? [यः] जो पुरुष [मनोवचनकायैः] मन, वचन, कायसे [रात्रिभुक्तिं] रात्रिभोजनका [परिहरति] त्याग करता है [सः] वह [सततम्] निरन्तर [अहिंसां] अहिंसाका [पालयति] पालन करता है [इति सिद्धम्] ऐसा सिद्ध हुआ।

टीकाः—'वा बहुप्रलपितैः किं इति सिद्धं यः मनोवचनकायैः रात्रिभुक्तिं परिहरति स सततं अहिंसां पालयति'—अर्थः—अथवा बहुत कहनेसे क्या ? यह बात सिद्ध हुई कि जो मनुष्य मन, वचन, कायसे रात्रिभोजनका त्याग करता है वह निरन्तर अहिंसाव्रतका पालन करता है।

भावार्थः—रात्रिभोजन करनेमें और रातमें भोजन बनानेमें सदैव हिंसा है। रात्रिमें भोजन करनेकी अपेक्षा रात्रिमें भोजन बनानेमें बहुत अधिक हिंसा होती है इसलिये अहिंसाव्रत पालन करनेवालेको प्रथम ही इसका (-रात्रिको बनाये हुएका) त्याग करना चाहिए। खासतोरसे बाजारके बने हुए पदार्थोका तो बिलकुल ही त्याग कर देना चाहिये। परन्तु यदि पाक्षिक श्रावक किसी कारणवश सम्पूर्ण त्याग न कर सके तो पानी, पान, मेवा, सुपारी, इलायची इत्यादि वस्तुयें, जिनमें रातमे बिलकुल आरम्भ न करना पड़े, ग्रहण करना चाहे तो कर सकता है, परन्तु वह तभी ग्रहण करे जब कि उनके पानीके बिना निर्वाह अशक्य हो। (वास्तवमें रात्रिभोजनके त्याग बिना अहिंसाव्रतकी सिद्धि होती ही नही इसीलिये कोई आचार्य तो इसे अहिंसाणुव्रतमे गर्भित करते है और कोई इसे जुदा ही षष्टम अणुव्रत कहते हैं) ।।१३४।।

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥१३५॥

अन्वयार्थः—[इति] इस प्रकार [अत्र] इस लोकमें [ये] जो [स्वहितकामाः] अपने हितके इच्छुक [मोक्षस्य] मोक्षके [त्रितयात्मनि] रत्नत्रयात्मक [मार्गे] मार्गमे [अनुपरतं] सर्वदा बिना अटके हुए [प्रयतन्ते] प्रयत्न करते हैं [ते] वे पुरुष [मुक्तिम्] मोक्षमें [अचिरेण] शीघ्र ही [प्रयान्ति] गमन करते हैं।

टीकाः—'ये (पुरुषाः) स्वहितकामाः इत्यत्र त्रितयात्मनि मोक्षमार्गे अनुपरतं प्रयतन्ते ते (पुरुषाः) अचिरेण मुक्ति प्रयान्ति'—अर्थः—जो जीव अपने हितकी इच्छा करता हुआ इस रीतिसे रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गमें सदैव प्रयत्न करता रहता है वह जीव शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त करता है। जीवमात्रका हित मोक्ष है, संसारमें अन्य कहीं भी आनन्द नहीं है। अतः जो जीव मोक्षमें जानेके इच्छुक हैं उन्हें सदैव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्गमें निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये। जो जीव मोक्षकी मात्र चरचा-वार्त्ता तो करते रहें किन्तु मोक्षके मार्गकी खोज न करें और उसके अनुसार चलनेका प्रयत्न न करें तो कभी मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकते और जो जीव उसके मार्गमें चलते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं वह जीव तुरन्त ही मोक्षके परम-धाममें पहुँच जाते हैं। इस प्रकार (-तत्त्वज्ञान पूर्वक) पाँचों पापके त्याग सहित पाँच अणुव्रत तथा रात्रिभोजनके त्यागका वर्णन करके अब सात शीलव्रतोंका वर्णन करते हैं। क्योंकि सात शीलव्रत पाँच अणुव्रतोंकी रक्षा करनेके लिये नगरके कोट-समान हैं। जैसे किला नगरका रक्षण करता है वैसे ही सात शीलव्रत पाँच अणुव्रतोंकी रक्षा करते हैं ॥१३५॥

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥

अन्वयार्थः—[किल] निश्चयसे [परिधयः इव] जैसे कोट, किला [नगराणि] नगरोंकी रक्षा करता है उसी तरह [शीलानि] तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत-यह सात शील [व्रतानि] पाँचों अणुव्रतोंका [पालयन्ति] पालन अर्थात् रक्षण करते हैं, [तस्मात्] इसलिये [व्रतपालनाय] व्रतोंका पालन करनेके लिये [शीलानि] सात शीलव्रत [अपि] भी [पालनीयानि] पालन करना चाहिये।

टीका:—'किल शीलानि व्रतानि पालयन्ति परिधयः नगराणि इव तस्मात् व्रतपालनाय शीलानि अपि पालनीयानि'—अर्थ:—निश्चयसे जो सात शीलव्रत हैं वे पाँचों अणुव्रतोंकी रक्षा करते है, जिस प्रकार कोट नगरकी रक्षा करता है। इसलिये पाँच अणुव्रतोंका पालन करनेके लिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार ये सात शीलव्रतोंको अवश्य पालन करना ही चाहिये। अब उनका ही वर्णन करते है वह सुनो। तीन गुणव्रतोंके नाम:—१ दिग्व्रत, २ देशव्रत, ३ अनर्थदण्डत्याग व्रत। चार शिक्षाव्रतोंके नाम:—१ सामायिक, २ प्रोषधोपवास, ३ भोगोपभोगपरिमाणव्रत, ४ वैयावृत्त। इस प्रकार यह सात शीलव्रत है ॥१३६॥

पहले दिग्व्रत नामके गुणव्रतका स्वरूप कहते हैं:—

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्त्तव्या विरतिरविचलिता ॥१३७॥

अन्वयार्थ:—[सुप्रसिद्धैः] भले प्रकार प्रसिद्ध [अभिज्ञानैः] ग्राम, नदी, पर्वतादि भिन्न भिन्न लक्षणोसे [सर्वतः] सभी दिशाओंमें [मर्यादां] मर्यादा [प्रविधाय] करके [प्राच्यादिभ्यः] पूर्वादि [दिग्भ्यः] दिशाओमें [अविचलिता विरतिः] गमन न करनेकी प्रतिज्ञा [कर्त्तव्या] करना चाहिये।

टीका:—'सुप्रसिद्धैः अभिज्ञानैः सर्वतः मर्यादां प्रविधाय प्राच्यादिभ्यः दिग्भ्यः अविचलिता विरतिः कर्त्तव्या'—अर्थ:—प्रसिद्ध तथा सर्वविदित महान पर्वतादि, नगरादि अथवा समुद्रादिसे सीमा बाँधकर जीवनपर्यन्त चार दिशा, चार विदिशा और ऊपर तथा नीचे इस प्रकार दशो दिशाओंमें जानेकी प्रतिज्ञा कर लेना चाहिये तत्पश्चात् उस बाँधी हुई मर्यादासे बाहर जीवनभर न जानेको दिग्व्रत कहते है। यहाँ पर्वत इत्यादि अथवा हवाई जहाजमे बैठकर ऊपर जानेकी अपेक्षा ऊर्ध्वदिशाका और कुआँ या समुद्रादिमे घुसनेकी अपेक्षा अधोदिशाका ग्रहण किया गया है ॥१३७॥

दिग्व्रत पालन करनेका फल

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य।
सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥१३८॥

अन्वयार्थ:—[यः] जो [इति] इस प्रकार [नियमितदिग्भागे] मर्यादा की हुई दिशाओके अन्दर [प्रवर्तते] रहता है [तस्य] उस पुरुषको [ततः] उस क्षेत्रके

[बहिः] बाहरके [सकलासंयमविरहात्] समस्त असंयमके त्यागके कारण [पूर्णं] परिपूर्ण [अहिंसाव्रतं] अहिंसाव्रत [भवति] होता है ।

टीका:—'यः (पुरुषः) इति नियमित दिग्भागे प्रवर्तते तस्य ततः बहिः सकलासंयमविरहात् पूर्णं अहिंसाव्रतं भवति'—अर्थ:—जो मनुष्य इस भाँति मर्यादित दशो दिशाओके क्षेत्रके अन्दर ही अपना सारा कार्य करता है उसको उन क्षेत्रोंसे बाहर समस्त ही असंयमका त्याग होनेके कारण सम्पूर्ण अहिंसाव्रत (महाव्रत) पल जाता है अतः दिग्व्रत पालन करनेसे अहिंसाव्रत पुष्ट होता है ॥१३८॥

देशव्रत नामक गुणव्रतका स्वरूप

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् ।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥१३९॥

अन्वयार्थः—[च] और [तत्र अपि] उस दिग्व्रतमें भी [ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्] ग्राम, बाजार–मकान, मोहल्ला इत्यादिका [परिमाणं] परिमाण [प्रविधाय] करके [देशात्] मर्यादा किये हुए क्षेत्रसे बाहर [नियतकालं] अपने निश्चित किये हुए समय तक जानेका [विरमणं] त्याग [करणीयं] करना चाहिये ।

टीका:—'तत्रापि च दिग्व्रतोऽपि च ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् नियतकालं परिमाणं प्रविधाय देशात् विरमणं करणीयम्'—अर्थ:—दिग्व्रतमें जो दशो दिशाओंकी मर्यादा की थी उसमें भी ग्राम, बाजार, मकान, मोहल्ला वगैरह तक एक दिन, एक सप्ताह, एक पक्ष, महीना, अयन, वर्ष इत्यादि निश्चित काल तक जाने–आनेका प्रमाण करके बाहरके क्षेत्रसे विरक्त होना देशव्रत कहलाता है । इस देशव्रतसे भी अहिंसाका पालन होता है ॥१३९॥

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ॥१४०॥

अन्वयार्थः—[इति] इस प्रकार [बहुदेशात् विरतः] बहुत क्षेत्रका त्याग करनेवाला [विमलमतिः] निर्मल बुद्धिवाला श्रावक [तत्कालं] उस नियमित कालमे [तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्] मर्यादाकृत क्षेत्रसे उत्पन्न होनेवाली हिंसा विशेषके त्यागसे [विशेषेण] विशेषरूपसे [अहिंसां] अहिंसाव्रतका [श्रयति] आश्रय करता है ।

टीका:—'इति बहुदेशात् विरतोः विमलमतिः तत्कालं तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् विशेषेण अहिंसां श्रयति'—अर्थ:—इस प्रकार दिग्व्रतमें किए हुए क्षेत्रका परिमाण करके उस क्षेत्रसे बाहर हिंसाका त्याग होने पर भी उत्तम बुद्धिवाला श्रावक जो उस समय दूसरे भी थोड़े क्षेत्रको मर्यादा करता है तो वह विशेषरूपसे अहिंसाका आश्रय करता है। जिस पुरुषने जीवन भरके लिए दक्षिणमें कन्याकुमारी और उत्तरमें हिमालय तक जानेका दिग्व्रत किया है वह हमेशा तो हिमालय जाता नहीं इसलिये वह रोजाना ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि आज मैं छपारादि अमुक गाँवमें ही रहूँगा, उससे बाहर नहीं जाऊँगा। अत. जिस दिन वह उस गाँवमें ही रहनेका नियम कर लेता है उस दिन उस गाँवके बाहरके प्रदेशमें अहिंसा महाव्रतका पालन हो जाता है ॥१४०॥

अनर्थदण्डत्याग नामक गुणव्रतका स्वरूप:—

बिना प्रयोजन पापके उत्पन्न करनेके त्यागको अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं:—१. अपध्यानत्यागव्रत, २. पापोपदेशत्यागव्रत, ३. प्रमादचर्यात्यागव्रत, ४. हिंसादानत्यागव्रत, ५. दु.श्रुतित्यागव्रत।

अपध्यानअनर्थदण्डत्यागव्रतका स्वरूप:—

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः ।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥१४१॥

अन्वयार्थ:—[पापर्द्धि-जय-पराजय-सङ्गर-परदारगमन-चौर्याद्याः] शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदिका [कदाचनापि] किसी भी समय [न चिन्त्याः] चिन्तवन नही करना चाहिये [यस्मात्] कारण कि इन अपध्यानोंका [केवलं] मात्र [पापफलं] पाप ही फल है।

टीका:—'पापर्द्धि जय पराजय सङ्गर-परदारगमन चौर्याद्याः कदाचन अपि न चिन्त्याः यस्मात् केवल पापफलं भवति'—

अर्थ:—शिकार करनेका (अर्थात् इस जीवको इस प्रकार मारें ऐसा भाव करना), संग्राममे किसीकी जीत और किसीकी हार, पर स्त्री गमन करनेका चितवन अथवा चोरी करनेका इत्यादि खराब-खोटे कार्योंकी जिनके करनेसे मात्र पाप ही होता है उनका कभी भी चिंतवन नही करना चाहिये। अत. जिस बातका विचार करनेसे केवल पापका ही बन्धन होता है उसे ही अपध्यान कहते हैं और स्वरूपमें विशेप सावधानी द्वारा उसका त्याग करना ही अपध्यानअनर्थदण्डत्यागव्रत है ॥१४१॥

पापोपदेश नामक अनर्थदण्डत्यागव्रतका स्वरूपः—

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥१४२॥

अन्वयार्थः—[विद्या–वाणिज्य–मषी–कृषि–सेवा–शिल्पजीविनां] विद्या, व्यापार, लेखनकला, खेती, नौकरी और कारीगरीसे निर्वाह चलानेवाले [पुंसाम्] पुरुषोंको [पापोपदेशदानं] पापका उपदेश मिले ऐसा [वचनं] वचन [कदाचित्अपि] किसी भी समय [नैव] नही [वक्तव्यम्] बोलना चाहिये ।

टीकाः—'विद्या वाणिज्य मषी कृषि सेवा शिल्प जीविनां पुंसाम् पापोपदेशदानं वचनं कदाचित् अपि नैव वक्तव्यम्'—अर्थः—विद्या अर्थात् वैद्यक, ज्योतिष आदि करनेवाला, अन्नादिकका व्यापार करनेवाला, लेखनकार्य करनेवाला, खेती करनेवाला, नौकरी–चाकरी करनेवाला, तथा लुहार, सुनार, दर्जी आदिके काम करनेवालोंको इन्ही कार्यों सम्बन्धी अथवा दूसरा कोई भी पापबन्ध करनेवाला कार्य है उनका किसीको भी उपदेश नहीं देना चाहिये । इसीको पापोपदेश अनर्थदण्ड त्याग व्रत कहते हैं । श्रावक गृहस्थ अपने कुटुम्बियोंको, भाई–बन्धोको, सगे–सम्बन्धियोंको, अथवा जिनके साथ अपना प्रयोजन है उनको तथा अपने साधर्मी भाइयोंको जीवन निर्वाह करनेके लिये अवश्य व्यापारादिका उपदेश देकर निमित्त सम्बन्धी चेष्टा कर सकता है, परन्तु जिनके साथ अपना कोई भी प्रयोजन नहीं है उन्हें उपदेश नही देना चाहिये ॥१४२॥

प्रमादचर्या अनर्थदण्डत्यागव्रतका स्वरूपः—

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥१४३॥

अन्वयार्थः—[भूखनन वृक्षमोट्टन शाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि] पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाड़ना, अतिशय घासवाली भूमि रौंदना, पानी सींचना आदि [च] और [दलफल-कुसुमोच्चयान्] पत्र, फल, फूल तोड़ना [अपि] इत्यादि भी [निष्कारणं] बिना प्रयोजन [न कुर्यात्] नहीं करना चाहिये ।

टीकाः—'निष्कारणं भूखनन वृक्षमोट्टन शाड्वलदलन अम्बुसेचनादीनि च दलफल कुसुमोच्चयान् अपि च न कुर्यात्'—अर्थः—बिना प्रयोजन पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाड़ना, घासको रौंदना, पानी सींचना,—फैलाना तथा पत्ता, फल, फूल तोड़ना इत्यादि कोई भी कार्य नहीं करना ।

भावार्थः—गृहस्थ श्रावक अपने प्रयोजनके लिये भूमिकानुसार कुछ भी कर सकता है परन्तु जिसमें अपना कुछ भी स्वार्थ न हो, जैसे कि रास्ता चलते वनस्पति आदि तोड़ना, भूमि खोदते चलना इत्यादि व्यर्थके काम नही करना चाहिये उसे ही प्रमादचर्याअनर्थदण्ड त्याग व्रत कहते हैं ।।१४३।।

हिंसाप्रदान अनर्थदण्डत्यागव्रतका स्वरूपः—

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ।।१४४।।

अन्वयार्थः—[असि-धेनु-विष-हुताशन-लाङ्गल-करवाल-कार्मुकादीनाम्] छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष आदि [हिंसायाः] हिंसाके [उपकरणानां] उपकरणोंका [वितरणम्] वितरण करना अर्थात् दूसरोंको देना [यत्नात्] सावधानीसे [परिहरेत्] छोड़ देना चाहिये ।

टीकाः—'हिंसायाः उपकरणानां असि धेनु विष हुताशन लाङ्गल करवाल कार्मुकादीनाम् परिहरेत्'—अर्थः—हिंसा करनेके साधन छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष बाण आदिका देना प्रयत्नसे दूर करे अर्थात् अन्यको नही देना चाहिये । इसीको हिंसादान अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते है । जिन वस्तुओंके देनेसे हिंसा होती हो उन वस्तुओंका उपयोग प्रयोजनवश अपने लिये तो कर सकते है किन्तु अन्यको वे वस्तु कभी भी नही देना ।।१४४।।

दुःश्रुति अनर्थदण्डत्यागव्रतका स्वरूपः—

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम् ।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ।।१४५।।

अन्वयार्थः—[रागादिवर्द्धनानां] राग, द्वेष, मोहादिको बढ़ानेवाली तथा [अबोधबहुलानाम्] बहुत अशोमे अज्ञानसे भरी हुई [दुष्टकथानाम्] दुष्ट कथाओंका [श्रवणार्जनशिक्षणादीनि] सुनना, धारण करना, सीखना आदि [कदाचन] किसी समय, कभी भी [न कुर्वीत] नही करना चाहिये ।

टीकाः—'अबोध (मिथ्यात्व) बहुलानां रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानां -श्रवणार्जन-शिक्षणादीनि न कदाचन कुर्वीत'—

अर्थः—मिथ्यात्व सहित रागद्वेष, वैरभाव, मोह, मदादि बढ़ानेवाली कुकथाओंका श्रवण तथा नवीन कथायें बनाना, बाँचना वगैरह कभी भी नहीं करना चाहिये। इसे ही दुःश्रुति अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं।

भावार्थः—जो कथा सुननेसे, पढ़नेसे और सीखनेसे विषयादिकी वृद्धि होगी, मोह बढ़ेगा और अपने तथा परके परिणामोंमें संक्लेश होगा अतः ऐसी राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा, स्त्रीकथा इत्यादि कथायें कहना या सुनना नही चाहिये ॥१४५॥

महाहिंसाका कारण और अनेक अनर्थ उत्पन्न करनेवाला जुआ भी त्याग करना चाहियेः—

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥१४६॥

अन्वयार्थः—[सर्वानर्थप्रथमं] सप्त व्यसनोंमें पहला अथवा सर्व अनर्थोंमें मुख्य [शौचस्य मथनं] सन्तोषका नाश करनेवाला [मायायाः] मायाचारका [सद्म] घर और [चौर्यासत्यास्पदम्] चोरी तथा असत्यका स्थान [द्यूतम्] ऐसे जुआको [दूरात्] दूर ही से [परिहरणीयम्] त्याग करना चाहिये।

टीकाः—'सर्वानर्थप्रथमम् मथनं शौचस्य, सद्म मायायाः चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् दूरात् परिहरणीयम्'—अर्थः—सभी अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाला; शौच जो लोभका त्याग उसका नाश करनेवाला और कपटका घर ऐसे जुआको दूरसे ही छोड़ना चाहिये।

भावार्थः—वास्तवमें जुआ खेलना बहुत ही निन्द्य काम है और सातों व्यसनोंमें सबसे अधिक निकृष्ट है। ज्वारी मनुष्य प्रायः सभी पापोंका आचरण करता है, अतः जुआका त्याग अवश्य करना चाहिये। अनर्थदण्ड त्यागनेवालेको जुआका भी त्याग करना चाहिये ॥१४६॥

विशेष कहते हैंः—

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥१४७॥

अन्वयार्थः—[यः] जो मनुष्य [एवं विधं] इस प्रकारके [अपरमपि] दूसरे भी [अनर्थदण्डं] अनर्थदण्डको [ज्ञात्वा] जानकर [मुञ्चति] त्याग करता है [तस्य]

उसके [अनवद्यं] निर्दोष [अहिंसाव्रतं] अहिंसाव्रत [अनिशं] निरन्तर [विजयं] विजयको [लभते] प्राप्त करता है।

टीका:—'यः एवं विधं अपरं अपि अनर्थदण्डं ज्ञात्वा मुञ्चति तस्य अनवद्यं अहिंसाव्रतं अनिशं विजयं लभते'—

अर्थ:—जो मनुष्य इस प्रकार दूसरे भी बिना प्रयोजन पापबन्ध करनेवाले अनर्थदण्डको जानकर छोड़ देता है, उसका पापरहित अहिंसाव्रत हमेशा विजय प्राप्त करता है, अर्थात् सदैव पुण्यबन्ध करके, पापका त्याग करता हुआ कर्मोंकी निर्जरा करता है।

भावार्थ:—संसारमें ऐसे छोटे छोटे अनेक कार्य है जिनको करनेसे व्यर्थ ही पापका बन्ध हुआ करता है, अतः सभी मनुष्योंको जिससे अपना कोई प्रयोजन नहीं है ऐसे व्यर्थ, अनर्थदण्डका त्याग अवश्य करना चाहिये—यही कर्त्तव्य है। इस प्रकार तीन गुणव्रतोंका वर्णन समाप्त हुआ ॥१४७॥

अब चार शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते हैं:—

पहला सामायिक शिक्षाव्रत

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य ।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८॥

अन्वयार्थ:—[रागद्वेषत्यागात्] रागद्वेषके त्यागसे [निखिलद्रव्येषु] सभी इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें [साम्यं] साम्यभावको [अवलम्ब्य] अंगीकार करके [तत्त्वोपलब्धि-मूलं] आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका मूलकारण ऐसा [सामायिकं] सामायिक [बहुशः] बहुत बार [कार्यम्] करना चाहिये।

टीका:—'निखिलद्रव्येषु रागद्वेषत्यागात् साम्यं अवलम्ब्य तत्त्वोपलब्धिमूलं सामायिकं बहुशः कार्यम्'—अर्थ:—समस्त इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें रागद्वेष भावोंके त्यागपूर्वक, समताभावका अवलम्बन करके, आत्माके (शुद्ध) स्वरूपकी प्राप्ति करनेमे मूलकारण सामायिक है वह बारबार करना चाहिये, अर्थात् प्रतिदिन तीन काल करना चाहिये। यही सामायिक शिक्षाव्रत

भावार्थ:—'सम्' अर्थात् एकरूप और 'अय' अर्थात् आत्माके स्वरूपमें गमन वह 'समय' हुआ। ऐसा 'समय' जिसका प्रयोजन है उसे सामायिक कहते हैं। यह सामायिक

समताभावके बिना नहीं हो सकती। अतः सुखदायक और दुखदायक पदार्थोंमें समान बुद्धि रखते हुए स्वरूपमें मग्न होना ही परमकार्य है। श्रावकको ऐसी सामायिक तीनों काल पाँचों पापोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिए। इसे ही सामायिक शिक्षाव्रत कहते है ॥१४८॥

सामायिक कब और किस प्रकारसे करना चाहिये यह बताते हैं:—

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम्।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥१४९॥

अन्वयार्थः—[तत्] वह सामायिक [रजनीदिनयोः] रात्रि और दिनके [अन्ते] अन्तमें [अविचलितम्] एकाग्रतापूर्वक [अवश्यं] अवश्य [भावनीयम्] करना चाहिये [पुनः] और यदि [इतरत्रसमये] अन्य समयमें भी [कृतं] करनेमे आवे तो [तत्कृतं] वह सामायिक कार्य [दोषाय] दोषके लिए [न] नही है अपितु [गुणाय] गुणके लिये ही होती है।

टीकाः—'तत् सामायिकं रजनी दिनयोः अन्ते अवश्यं अविचलितं भावनीयम् पुनः इतरत्र समये दोषाय कृतम् न किन्तु तत् गुणाय कृतम् अस्ति'—अर्थः—वह *सामायिक प्रत्येक श्रावकको रात और दिनके अन्तमें अर्थात् प्रभात और सन्ध्याकाल अवश्य ही नियमपूर्वक करना चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि शेष समयमें भी सामायिक की जावे तो वह गुणके निमित्त ही है, दोषके निमित्त नहीं है।

भावार्थः—गृहस्थ श्रावक गृहस्थीके अनेक कार्योमें संलग्न रहता है अतः उसके लिये आलम्बनरूप प्रभात और सन्ध्या दोनों समय आचार्योने नियमित किये है। यों तो सामायिक जब भी इच्छा हो की जा सकती है उससे आत्माका कल्याण ही है, नुकसान कदापि नहीं है। इसलिये प्रत्येक श्रावकको दोनों समय अथवा तीन समय उत्कृष्ट छह घड़ी, मध्यम चार घड़ी, जघन्य दो घड़ी तक पाँचों पाप तथा आरम्भ-

---

* सामायिकके लिये १—योग्य क्षेत्र, २—योग्यकाल, ३—योग्य आसन, ४—योग्य विनय, ५—मनशुद्धि, ६-वचनशुद्धि, ७—भावशुद्धि, ८—कायशुद्धि—इन आठ बातोंकी अनुकूलता होना आवश्यक है। उसमें भेदज्ञान पूर्वक स्वसन्मुखताके बलसे जितनी परिणामोंकी शुद्धता हो उतनी निश्चय सामायिक है, वहाँ वर्तते हुए शुभरागको व्यवहार सामायिक कहते हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक जिसने कषायकी दो चौकड़ियोंका अभाव किया है उस जीवके सच्चे अणुव्रत और सामायिक व्रत होता है। जिसके निश्चय सम्यग्दर्शन न हुआ हो उसके व्रतको भगवान सर्वज्ञदेव बालव्रत अर्थात् अज्ञानमयव्रत कहते हैं।

परिग्रहका त्याग करके एकान्त स्थानमें शुद्ध मन करके पहले पूर्व दिशामें नमस्कार करना अर्थात् अंगोंको भूमिसे लगाकर नमना, फिर नौ बार नमस्कार मन्त्रका जाप करना, पश्चात् तीन आवर्त्तन अर्थात् हाथ जोड़कर प्रदक्षिणा करना, और एक शिरोनति अर्थात् हाथ जोडकर मस्तक नमाना। इस प्रकार चारों दिशाओंमें करके खड्गासन अथवा पद्मासन धारण करके सामायिक करना चाहिये। और जब सामायिक पूर्ण हो जाय तब अन्तमे भी प्रारम्भकी तरह नौ बार नमस्कार मन्त्रका जाप, तीन तीन आवर्त्तन, एक एक शिरोनति करना चाहिए। यही सामायिक करनेकी स्थूल विधि है सामायिक करते समय—सामायिक कालमें—श्रावक भी मुनिके ही समान है ।।१४९।।

सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् ।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ।।१५०।।

अन्वयार्थः—[एषाम्] यह [सामायिकश्रितानां] सामायिक दशाको प्राप्त श्रावकोंको [चारित्रमोहस्य] चारित्रमोहका [उदयेऽपि] उदय होने पर भी [समस्त-सावद्ययोगपरिहारात्] समस्त पापके योगका त्याग होनेसे [महाव्रतं] महाव्रत [भवति] होता है।

टीकाः—'सामायिकश्रितानां एषां श्रावकानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् चरित्रमोहस्य उदये अपि महाव्रतं भवति'—अर्थः—सामायिक करनेवाले श्रावकके उस समय समस्त पाँचों पापोंका त्याग होनेसे प्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीयकर्मका उदय होने पर भी महाव्रत ही है।

भावार्थः—श्रावक जिस समय सामायिक कर रहा हो उस समय वास्तवमें उसकी अवस्था मुनि समान ही है। उसके परिणामोंमे और मुनिके परिणामोमें विशेष अन्तर नहीं है। भेद केवल इतना ही है कि मुनि दिगम्बर है और श्रावक वस्त्र सहित है। मुनि महाराजने प्रत्याख्यानावरण कषायोंका त्याग कर दिया है और श्रावकने अभी तक प्रत्याख्यानावरण कषायका त्याग नही किया है ।।१५०।।

अब दूसरे शिक्षाव्रत प्रोषधोपवासका स्वरूप कहते हैं:—

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् ।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः ।।१५१।।

अन्वयार्थः—[प्रतिदिनं] प्रतिदिन [आरोपितं] अंगीकार किये हुए [सामायिक संस्कारं] सामायिकरूप संस्कारको [स्थिरीकर्त्तुम्] स्थिर करनेके लिए [द्वयोः] दोनों [पक्षार्द्धयोः] पक्षके अर्द्धभागमें अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशीके दिन [उपवासः] उपवास [अवश्यमपि] अवश्य ही [कर्त्तव्यः] करना चाहिये।

टीका:—'प्रतिदिनं आरोपितं सामायिक संस्कारं स्थिरीकर्त्तुम् द्वयोरपि पक्षार्द्धयोः अवश्यं उपवासः कर्त्तव्यः'—अर्थ:—प्रतिदिन अंगीकार किये हुए सामायिक व्रतकी दृढ़ता करनेके लिये दोनों पखवाड़ोंके (शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षके) अर्द्धभागमें चतुर्दशी और अष्टमीके दिन अवश्य उपवास करना चाहिए।

भावार्थः—प्रोषधका अर्थ पर्व है और उपवासका अर्थ है निकटवास करना। पर्वमें पापसे छूटकर धर्ममें वास करनेको प्रोषधोपवास कहते हैं। यह प्रोषधोपवास प्रत्येक महीनेमें चार वार किया जाता है अर्थात् प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमीके दिन किया जाता है। इससे सामायिक करनेकी भावना दृढ़ रहती है अर्थात् विषय-कषायोंसे चित्त सदा विरक्त ही रहता है इसलिये प्रत्येक गृहस्थको सामायिक अवश्य ही करना चाहिये ॥१५१॥

प्रोषधोपवासकी विधि

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥

अन्वयार्थः—[मुक्तसमस्तारम्भः] समस्त आरम्भसे मुक्त होकर [देहादौ] शरीरादिमें [ममत्वं] ममत्वबुद्धिका [अपहाय] त्याग करके [प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे] पर्वके पहले दिनके मध्याह्न कालमें [उपवासं] उपवासको [गृह्णीयात्] अंगीकार करना चाहिये।

टीका:—'प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे मुक्तसमस्तारम्भः देहादौ ममत्वं, अपहाय उपवासं गृह्णीयात्'—अर्थ:—जिस दिन उपवास करना है उसके एक दिन पहले अर्थात् धारणाके दिन समस्त आरम्भ छोड़कर चार प्रकारके आहारका त्याग करके शरीरादिमें ममत्व-भाव छोड़कर उपवास ग्रहण करें।

भावार्थः—जैसे अष्टमीके दिन उपवास करना है तो सप्तमीके दोपहरके बारह बजेसे चारों प्रकारके आहारका त्याग करके, समस्त आरम्भका त्याग करते हुए शरीरादिसे मोह छोड़कर उपवास धारण करना चाहिये ॥१५२॥

उपवासके दिनका कर्त्तव्य

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ।।१५३।।

अन्वयार्थः—फिर [विविक्तवसतिं] निर्जन [1]वसतिका–निवासस्थानमें [श्रित्वा] जाकर [समस्तसावद्ययोगं] [2]सम्पूर्ण सावद्ययोगका [अपनीय] त्याग करके [सर्वेन्द्रियार्थ-विरतः] सर्व इन्द्रियोसे विरक्त होकर [कायमनोवचनगुप्तिभिः] मनगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति सहित [तिष्ठेत्] स्थिर होवे ।

टीकाः—'विविक्त वसतिं श्रित्वा समस्त सावद्ययोगं अपनीय सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिः तिष्ठेत्'—अर्थः—जिसने सप्तमोके दिन उपवास धारण किया है वह श्रावक उसी समय एकान्त स्थानमें जाकर [सोलह पहर अर्थात् ४८ घण्टेके लिये] हिंसादि पाँच पापोंको संकल्पपूर्वक त्याग करके, पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर, मन, वचन और कायको वश रखे अर्थात् तीन गुप्तिका पालन करे ।

भावार्थः—उपवासका सारा समय धर्मध्यानादिमें व्यतीत करना चाहिए । एकान्त स्थानके बिना धर्मध्यान नही हो सकता, इसलिये एकान्त स्थान धर्मशाला, चैत्यालय वगैरहमें वास करे और मनमें विचार करे तो केवल धार्मिक बातोंका ही विचार करे, वचन बोले तो धार्मिक बातोंका ही विवेचन करे, तथा कायकी चेष्टा करे तो अपनी मर्यादा प्रमाण क्षेत्रमे धर्मरूप ही करे, निरर्थक चलना–फिरना न करे । इस भाँति तीनों गुप्तियोंका पालन करे ।।१५३।।

पश्चात् क्या करना चाहिए वह बताते हैं:—

धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम् ।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ।।१५४।।

---

१ प्राचीन समयमें नगर–ग्रामोंके बाहर धर्मात्माजन मुनियोंके ठहरनेके लिए—आरामके लिए अथवा सामायिक आदि करनेके लिए झोंपड़ी आदि बनवा देते थे, उसे वसतिका कहते थे । अनेक नगरोंमें वसतिका आजकल भी देखनेमे आती है ।

२ सम्पूर्ण सावद्ययोगका त्याग=जिस समय सावद्ययोगका त्याग करे उस समय "मैं सर्व सावद्ययोगका त्यागी होता हूँ" ऐसी प्रतिज्ञा करे ।

अन्वयार्थः—[विहितसान्ध्यविधिम्] प्रातःकाल तथा सन्ध्याकालकी सामायिकादि क्रिया करके [वासरम्] दिवस [धर्मध्यानासक्तः] धर्मध्यानमें लीन होकर [अतिवाह्य] व्यतीत करे और [स्वाध्यायजितनिद्रः] पठन-पाठनसे निद्राको जीतकर [शुचिसंस्तरे] पवित्र बिस्तर (चटाई आदि) पर [त्रियामां] रात [गमयेत्] पूर्ण करे।

टीकाः—'धर्मध्यानासक्तो वासरं अतिवाह्य विहित सान्ध्यविधिम् स्वाध्यायजितनिद्रः शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्'—अर्थः—उपवास अंगीकार करके श्रावक, धर्मध्यानमें लीन होकर दिवस पूर्ण करके तथा सन्ध्यासमय सामायिक आदि करके तीन पहर तक पवित्र बिस्तरमें यथाशक्ति स्वाध्याय करते हुए रात्रि व्यतीत करे।

भावार्थः—यह उपवास धारणाका दिन है अतः दोपहरके बारह बजेसे सन्ध्याकाल तक धर्मध्यान करना, फिर सामायिक करके स्वाध्याय करना पश्चात् शयन करना और यथाशक्ति ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना। इसके बाद प्रातःकाल चार बजे बिस्तरको छोड़कर जागृत हो जाना चाहिए ।।१५४।।

इसके बाद क्या करना ?

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ।।१५५।।

अन्वयार्थः—[ततः] इसके बाद [प्रातः] सुबह ही [प्रोत्थाय] उठकर [तात्कालिकं] प्रातःकालकी [क्रियाकल्पम्] सामायिकादि क्रियायें [कृत्वा] करके [प्रासुकैः] प्रासुक अर्थात् जीवरहित [द्रव्यैः] द्रव्योसे [यथोक्तं] आर्ष ग्रन्थोमे कहे अनुसार [जिनपूजां] जिनेन्द्रदेवकी पूजा [निर्वर्तयेत्] करे।

टीकाः—'ततः प्रातः प्रोत्थाय तात्कालिकं क्रियाकल्पं कृत्वा यथोक्तं प्रासुकैः द्रव्यैः जिनपूजां निर्वर्तयेत्'—अर्थः—शयनके बाद चार बजे ब्रह्ममुहूर्तमें जाग्रत होकर सामायिक और भजन व स्तुति आदि करके, शौच-स्नानादिसे निवटकर प्रासुक आठ द्रव्योसे भगवानकी पूजा करना तथा स्वाध्याय आदि करना।

भावार्थः—आचार्योंका अभिप्राय यहाँ प्रासुक द्रव्योंसे पूजन करनेका है। अतः जलको लौंग द्वारा [1]प्रासुक बना लेना चाहिए या जलको उबाल लेना चाहिये और उसी जलसे द्रव्योंको धोना चाहिये। भगवानकी पूजामें अनेक प्रकारके सचित्त पदार्थ जैसे नारङ्गी, मौसम्मी, गन्ना, इत्यादि सचित्त वस्तुएँ उपवासके व्रतधारियोंको कदापि नहीं चढ़ाना चाहिये ॥१५५॥

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥

अन्वयार्थः—[ततः] उसके बाद [उक्तेन] पूर्वोक्त [विधिना] विधिसे [दिवसं] उपवासका दिन [च] और [द्वितीयरात्रिं] दूसरी रातको [नीत्वा] व्यतीत करके [च] फिर [तृतीयदिवसस्य] तीसरे दिनका [अर्धं] आधा भाग भी [प्रयत्नात्] अतिशय यत्नाचारपूर्वक [अतिवाहयेत्] व्यतीत करे।

टीकाः—'ततः उक्तेन विधिना दिवसं नीत्वा च द्वितीय रात्रिं नीत्वा च तृतीय दिवसस्य अर्द्धं प्रयत्नात् अतिवाहयेत्'—अर्थः—फिर जिस प्रकार धर्मध्यानपूर्वक पहले आधा दिन व्यतीत किया था उसी प्रकार दूसरा दिन भी व्यतीत करके, तथा जैसे स्वाध्यायपूर्वक पहली रात व्यतीत की थी वैसे ही दूसरी रात भी व्यतीत करके अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक तीसरा आधा दिन भी व्यतीत करना चाहिये।

भावार्थः—जिस प्रकार धारणाका दिन व्यतीत किया था उसी प्रकार पारणाका दिन भी व्यतीत करे। धारणासे लेकर पारणा तकका सोलह पहरका समय (४८ घण्टे) श्रावकको भले प्रकार धर्मध्यानपूर्वक ही व्यतीत करना चाहिये, तभी उसका उपवास करना सार्थक है; कारण कि विषय-कषायोंका त्याग करनेके लिये ही उपवासादि किये जाते है ॥१५६॥

अब उपवास करनेका फल बताते हैं:—

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥१५७॥

---

१ प्रासुक=जो द्रव्य सूखा हो-पका हुआ हो-अग्नि पर तपाया हुआ हो—लवण तथा अम्लरस मिश्रित हो-कोल्हू, छुरी, चक्की आदि यन्त्रोंसे छिन्न-भिन्न किया हुआ हो-तथा संशोधित हो, वह सभी प्रासुक=अचित्त है। यह गाथा स्वामी कार्तिकेय ग्रन्थकी संस्कृत टीकामें तथा गोमट्टसारकी केशववर्णी कृत संस्कृत टीकामें सत्यवचनके भेदोंमें कही गई है।

अन्वयार्थः—[यः] जो जीव [इति] इस प्रकार [परिमुक्तसकलसावद्यः सन्] सम्पूर्ण पापक्रियाओंसे रहित होकर [षोडशयामान्] सोलह प्रहर [गमयति] व्यतीत करता है [तस्य] उसे [तदानीं] उस समय [नियतं] निश्चयपूर्वक [पूर्णं] सम्पूर्ण [अहिंसाव्रतं] अहिंसाव्रत [भवति] होता है।

टीका:—'इति (पूर्वोक्तरीत्या) यः (श्रावकः) परिमुक्तसकलसावद्यः षोडशयामान् गमयति, तस्य (श्रावकस्य) तदानीं नियतं पूर्णं अहिंसाव्रतं भवति'—अर्थ:—जिस प्रकारसे उपवासकी विधि बताई है उसी प्रकारसे जो श्रावक सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रहका त्याग करके सोलह प्रहर व्यतीत करता है उस श्रावकको उन सोलह प्रहरमें नियमसे पूर्ण अहिंसाव्रतका पालन होता है।

भावार्थः—उपवास तीन प्रकारका है। उत्कृष्ट उपवास १६ पहरका है, मध्यम उपवास १२ पहरका है, जघन्य उपवास ८ पहरका है।

यथा (१) सप्तमीके दिन दोपहरको १२ बजे उपवास धारण किया और नवमीके दिन दोपहरको १२ बजे पारणा किया—इस तरह १६ पहर हुए, यह उत्कृष्ट उपवास है।

(२) सप्तमीके दिन सन्ध्या समय ५ बजे उपवास धारण किया और नवमीके दिन प्रातः ७ बजे पारणा किया। यह १२ पहरका मध्यम उपवास है।

(३) जघन्य उपवास आठ पहरका है। अष्टमीके दिन प्रातः ८ बजे उपवास धारण किया और नवमीके दिन प्रातः ८ बजे पारणा किया। यह ८ पहरका जघन्य उपवास हुआ। इस भाँति उपवासका वर्णन पूर्ण हुआ ॥१५७॥

उपवासमें विशेषतः अहिंसाकी पुष्टि

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत् किलामीषाम्।
भोगोपभोग विरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥१५८॥

अन्वयार्थः—[किल] निश्चयसे [अमीषाम्] इस देशव्रती श्रावकको [भोगोपभोगहेतोः] भोग-उपभोगके हेतुसे [स्थावरहिंसा] स्थावर अर्थात् एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा [भवेत्] होती है परन्तु [भोगोपभोगविरहात्] भोग-उपभोगके त्यागसे [हिंसायाः] हिंसा [लेशः अपि] लेशमात्र भी [न भवति] नहीं होती।

टीकाः—'किल अमीषाम् (श्रावकानाम्) भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत् (अतः उपवासे) भोगोपभोगविरहात् हिंसायाः लेशोऽपि न भवति'—अर्थः—निश्चयसे इन देशव्रती श्रावकोंको भोगोपभोगके निमित्तसे स्थावरहिंसा होती है, क्योंकि वे त्रसहिंसाके तो पूर्णरूपसे त्यागी ही है। जब गृहस्थ श्रावक उपवासमें समस्त आरम्भ-परिग्रह और पाँचों पापोंका सम्पूर्ण त्याग कर देता है तब उसे उपवासमें स्थावरहिंसा भी नही होती। कारण कि भोगोपभोगका त्याग हो जानेसे हिंसाका अंशमात्र भी नही रहा इसलिये अहिंसा महाव्रतका पालन हुआ ।।१५८।।

इसी प्रकार उपवासमें अहिंसा महाव्रतकी तरह अन्य चार महाव्रत भी पालन हो जाते हैं यह बात बताते हैं:—

वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहितः स्तेयम्।
नाब्रह्म मैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेऽप्यमूर्छस्य ।।१५९।।

अन्वयार्थः—और उपवासधारी पुरुषके [वाग्गुप्तेः] वचनगुप्ति होनेसे [अनृतं] असत्य वचन [न] नही है [समस्तादानविरहितः] सम्पूर्ण अदत्तादानके त्यागसे [स्तेयम्] चोरी [न] नही है [मैथुनमुचः] मैथुन त्यागीको [अब्रह्म] अब्रह्मचर्य [न] नही है और [अंगे] शरीरमे [अमूर्छस्य] ममत्व न होनेसे [सङ्गः] परिग्रह [अपि] भी [न] नही है।

टीकाः—'वाग्गुप्तेः अनृतं नास्ति, समस्तादानविरहितः स्तेयं नास्ति, मैथुनमुचः अब्रह्म नास्ति, अङ्गे अपि अमूर्छस्य सङ्गः नास्ति।'—अर्थः—उपवासधारी पुरुषके वचनगुप्तिका पालन होनेसे सत्य महाव्रतका पालन होता है, बिना दी हुई समस्त वस्तुओंके ग्रहण करनेका त्याग होनेसे अचौर्य महाव्रतका पालन होता है, सम्पूर्ण मैथुन कर्मका त्याग होनेसे ब्रह्मचर्य महाव्रतका पालन होता है तथा शरीरमें ही ममत्वपरिणाम न होनेसे परिग्रहत्याग महाव्रतका पालन भी होता है। इस प्रकार चारों महाव्रतोंका पालन उपवासमें हो जाता है ।।१५९।।

अब यहाँ कोई शंका करे कि जब श्रावकको भी महाव्रत है और मुनियोंको भी महाव्रत है तो दोनोंमें अन्तर क्या है?

इत्थमशेषितहिंसाः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ।।१६०।।

अन्वयार्थः—[इत्थम्] इस प्रकार [अशेषितहिंसा] सम्पूर्ण हिंसाओंसे रहित [सः] वह प्रोषधोपवास करनेवाला पुरुष [उपचारात्] उपचारसे अथवा व्यवहारनयसे [महाव्रतित्वं] महाव्रतपना [प्रयाति] पाता है, [तु] परन्तु [चारित्रमोहे] चारित्र-मोहके [उदयति] उदयरूप होनेके कारण [संयमस्थानम्] सयमस्थान अर्थात् प्रमत्तादि गुणस्थान [न लभते] नहीं प्राप्त करता।

टीकाः—'इत्थं अशेषितहिंसाः सः (श्रावकः) उपचारात् महाव्रतित्वं प्रयाति, तु चारित्रमोहे उदयति (सति) संयमस्थानं न लभते'—अर्थः—इस प्रकार जिसके हिंसा अवशेष नही है ऐसा श्रावक उपचारसे महाव्रती कहलाता है। वास्तवमें वह महाव्रती नही है, क्योकि प्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीय कर्मके उदयमें युक्त होनेसे वह श्रावक महाव्रत संयमको प्राप्त नहीं हो सकता।

भावार्थः—वास्तवमे जिसके प्रत्याख्यानावरण क्रोध–मान–माया–लोभका अभाव हो गया है वही महाव्रती संयमी कहलाता है। परन्तु जिसके उन कषायोंका अभाव तो नही हुआ है किन्तु उन द्रव्यरूप पाँचों पापोंका अभाव हो गया हो तो उसको उपचारसे महाव्रत है; वास्तवमें महाव्रत नही है, क्योंकि पूर्ण संयम प्रमत्तगुणस्थानमें ही प्रारम्भ होता है और वह प्रमत्त गुणस्थान प्रत्याख्यानावरण कषायके अभाव बिना होता नहीं है। इस भाँति प्रोषधोपवासका वर्णन किया। यह प्रोषधोपवास सभी श्रावकोंको करना चाहिये, क्योंकि इसमें पाँचों महापापोंका त्याग हो जाता है तथा पाँचों इन्द्रियोके विषय तथा कषायोंका दमन भी हो जाता है। जो गृहस्थ केवल मान–बड़ाईके लिये ही उपवास अंगीकार करता है और अपने कषायोंका त्याग नही करता उसका उपवास करना न करना समान ही है ॥१६०॥

तीसरा शिक्षाव्रत–भोगोपभोगपरिमाण

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ॥१६१॥

अन्वयार्थः—[विरताविरतस्य] देशव्रती श्रावकको [भोगोपभोगमूला] भोग और उपभोगके निमित्तसे होनेवाली [हिंसा] हिंसा होती है [अन्यतः न] अन्य प्रकारसे नहीं होती इसलिये [तौ] वह दोनो अर्थात् भोग और उपभोग [अपि] भी

[वस्तुतत्त्वं] वस्तुस्वरूप [अपि] और [स्वशक्तिं] अपनी शक्तिको [अधिगम्य] जानकर अर्थात् अपनी शक्ति अनुसार [त्याज्यौ] छोड़ने योग्य है।

टीका:—'विरताविरतस्य भोगोपभोगमूला हिंसा भवति। अन्यतः न इति हेतोः भावकेन वस्तुतत्त्वं अधिगम्य तथा स्वशक्तिं अपि अधिगम्य तौ अपि भोगोपभोगौ अपि त्याज्यौ'—अर्थ:—व्रत व अव्रतके धारी देशव्रती श्रावकको भोग और उपभोग पदार्थों सम्बन्धी हिंसा होती है, किन्तु अन्य प्रकारकी कोई दूसरी हिंसा नहीं होती। इसलिये वस्तुस्वरूप जानकर अर्थात् इस वस्तुके भोगनेमें इतना दोष है, यह वस्तु भक्ष्य है, यह वस्तु अभक्ष्य है, ऐसा विचार करके, तथा अपनी शक्ति अर्थात् शरीर और परिणामोंकी शक्तिको जानकर जितना बन सके उतना भोगोपभोगका परिमाण करके शेषका त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ:—जो एक बार भोगनेमें आवे उसे भोग कहते है। जैसे दाल, भात, रोटी, पूड़ी, दूध, दही, पेड़ा, जलेबी, पानी, पुष्पमाला इत्यादि सभी भोग पदार्थ है। जो बार बार भोगनेमे आवे उसे उपभोग कहते है। जैसे कपड़ा, बर्तन, घर, खेत, गाय, बैल, जेवर, सवारी इत्यादि सभी उपभोग पदार्थ हैं। श्रावकको इन पदार्थोंके सम्बन्धसे हिंसा होती है इसलिये उसे इन हिंसाके कारणोंका भी शीघ्र ही त्याग करना चाहिये ।।१६१।।

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ।।१६२।।

अन्वयार्थ:—[ततः] कारण कि [एकम्] एक साधारण शरीरको—कन्दमूलादिकको [अपि] भी [प्रजिघांसुः] घात करनेकी इच्छा करनेवाला पुरुष [अनन्तानि] अनन्त जीवोंको [निहन्ति] मारता है, [अतः] इसलिये [अशेषाणां] सम्पूर्ण [अनन्तकायानां] अनन्तकायका [परिहरणं] परित्याग [अवश्यं] अवश्य [करणीयम्] करना चाहिये।

टीका:—'एकं अपि प्रजिघांसुः अतः अनन्तानि निहन्ति ततः अशेषाणां अनन्तकायानां अवश्यं परिहरणं करणीयम्'—अर्थ:—एक कन्दमूल सम्बन्धी जीवको खानेकी इच्छा करनेवाला गृहस्थ उस जीवके साथ साथ उसके आश्रय रहनेवाले साधारण अनन्त

जीव हैं उन सभीका घात करता है इसलिये साधारण अनन्तकायवाली जितनी वनस्पतियाँ हैं *उन सभीका अवश्य त्याग करना चाहिये।

भावार्थः—वनस्पति साधारण और प्रत्येक- इस तरह दो प्रकारकी होती है। इसमेंसे साधारण वनस्पतिका त्याग तो गृहस्थ श्रावकको सर्वथा ही कर देना चाहिये तथा यथाशक्ति प्रत्येक वनस्पतिका भी त्याग- करना चाहिये। अब यहाँ प्रत्येक और साधारणके सभी भेद—प्रभेद स्पष्टरूपसे कथन किये जा रहे हैं।

पाँच स्थावरोंमेंसे पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय इन चारमें तो निगोदके जीव रहते नहीं, केवल एक वनस्पतिकायमें ही रहते है। उसके प्रत्येक और साधारण इस प्रकार दो भेद हैं। जिस शरीरका एक ही स्वामी हो उसे प्रत्येक कहते हैं और जिस शरीरके अनन्त स्वामी हों उसे साधारण कहते हैं। प्रत्येकके भी दो भेद हैं। सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जो निगोद सहित हो अर्थात् जिस शरीरका मूल स्वामी एक हो और उस शरीरके आश्रय अनन्त जीव रहते हो उसे सप्रतिष्ठित कहते हैं। जिस शरीरका मूल स्वामी एक हो और उसके आश्रय अनन्त जीव न रहते हों अर्थात् निगोद सहित न हो उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

साधारण वनस्पतिका लक्षण:—जिसको तोड़ने पर समान भङ्ग हो, जिसके पत्तोंमें जबतक तन्तु रेखा और नसाजाल न निकले हों, जिसकी मूल, कन्द, कन्दमूल, छाल, पत्ते, छोटी डाली, फूल, फल और बीजमें—उसके तोड़ते समय—समान भंग हो जाय तबतक वह सभी साधारण वनस्पति है और जब उनमें समान भंग न हो तब वही वनस्पति प्रत्येक हो जाती है। यद्यपि साधारण वनस्पति तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति—इन दोनोमें अनन्त जीव हैं तो भी साधारण वनस्पतिके शरीरमें जितने जीव हैं वे सभी उस शरीरके स्वामी हैं और उस वनस्पतिके तोड़ने—काटने पर उन सभी जीवोंका घात होता है और सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिके एक शरीरमें शरीरका स्वामी तो एक ही है किन्तु उस शरीरके आश्रय अनन्त जीव हैं वे सभी स्वामी नहीं हैं...

---

* उन सभीका त्याग अर्थात् उन सम्बन्धी रागका त्याग, वह भी मिथ्या अभिप्रायके त्यागरूप और स्वाश्रयके ग्रहणरूप सम्यग्दर्शनके बिना 'यथार्थरीतिसे व्यवहार त्याग' नहीं कहला सकता। धर्मीजीवको त्रस व स्थावर जीवके भेद जानना चाहिये। दोइन्द्रिय आदिसे पंचेन्द्रिय तक जीवोंको त्रस तथा पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंको स्थावर कहते हैं। (स्थावर जीवको एकेन्द्रियपना है)

और उस शरीरके स्वामीके मरने-जीनेके साथ उन समस्त जीवोंके मरने-जीनेका कोई सम्बन्ध नही है। बस यही दोनोंमें भेद है। इसलिये गृहस्थ श्रावकको साधारण वनस्पतिका सर्वथा ही त्याग करना चाहिये और सप्रतिष्ठित प्रत्येकका भी त्याग करना चाहिए क्योंकि एक साधारण वनस्पतिके एक शरीरमें अनन्तानन्त जीव रहते है। इसलिये जब हम एक आलू खाते है तब अनन्तानन्त जीवोंका घात करते हैं।

अब यहाँ एक साधारण वनस्पतिका विचार किया जाता है। जैसे एक आलू या अदरख इत्यादि साधारण वनस्पतिका विचार करें तो उसमें लोकके जितने प्रदेश हैं उनसे असंख्यातगुने शरीर है उन सर्व शरीरोंके पिण्डोंको 'स्कन्ध' कहते हैं, (जैसे अपना एक शरीर है)। और उस एक स्कन्धमें असंख्यात लोक प्रमाण 'अण्डर' है, (जैसे अपने शरीरमें हाथ, पैर आदि उपांग है)। और एक अण्डरमें असंख्यात लोकप्रमाण 'पुलवी' है, (जैसे अपने हाथमें उँगलियाँ है)। और एक पुलवीमें असंख्यात लोकप्रमाण 'आवास' है (जैसे एक उँगलीमें तीन पोरे होते हैं) और एक आवासमें असंख्यात लोक प्रमाण निगोद 'शरीर' है (जैसे एक पोरेमें अनेक रेखायें हैं) और एक निगोद शरीरमें सिद्ध राशिसे अर्थात् अनन्त मुक्तात्माओंसे-अनन्तगुने जीव हैं अर्थात् सिद्धालयमें जो अनन्त सिद्ध जीव विराजमान है उनसे भी अनन्तगुने जीव एक निगोद शरीरमें है (जैसे एक उँगलीकी रेखामें असंख्यात प्रदेश हैं) इस प्रकार एक आलू अथवा साधारण हरीके (आलू-अदरख इत्यादिके) टुकड़ेमें अनन्तानन्त जीव रहते है। अतः ऐसी वनस्पतियोंका शीघ्र ही त्याग कर देना चाहिये ॥१६२॥

आगे विशेषरूपसे बताते हैं:—

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम् ।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥१६३॥

अन्वयार्थः—[च] और [प्रभूतजीवानाम्] बहुत जीवोंका [योनिस्थानं] उत्पत्तिस्थानरूप [नवनीतं] मक्खन अथवा लौनी [त्याज्यं] त्याग करने योग्य है। [वा] अथवा [पिण्डशुद्धौ] आहारकी शुद्धिमें [यत्किंचित्] जो किञ्चित् भी [विरुद्धं] विरुद्ध [अभिधीयते] कहा गया है [तत्] वह [अपि] भी त्याग करने योग्य है।

टीकाः—'च प्रभूत जीवानां योनिस्थानं नवनीतं त्याज्यम् वा पिण्डशुद्धौ यत्किंचित् विरुद्धं अभिधीयते तत् अपि त्याज्यं।'—तथा बहुत जीवोकी उत्पत्तिका स्थान (दहीमेसे

निकली हुई–अग्नि पर बिना तपाई हुई–लौनी) जो मक्खन–ताजा मक्खन भी–त्याग करने योग्य है और आहारशुद्धिमें जो कुछ भी निषिद्ध हैं वह सभी छोड़ देना चाहिए।

भावार्थः—आचारशास्त्रमें जो पदार्थ अभक्ष्य और निषिद्ध बताये हैं उन सबका त्याग करना चाहिये। जैसे कि चमड़ेमें रखा हुआ अथवा चमड़ेका स्पर्श किया हुआ जल, तेल, घी, हीग तथा नलका पानी इत्यादि सभी अशुद्ध हैं अतः नहीं खाना चाहिये। एक मुहूर्त्त अर्थात् ४८ मिनिटसे अधिक समयका रखा हुआ कच्चा दूध, एक दिन उपरान्तका दही, बाजारका आटा, अनजाना हुआ फल, बैगन, सड़ा हुआ अनाज, बहुबीजवाली वस्तु–नहीं खाना। मर्यादा उपरान्तके समयका आटा खाना नही चाहिये। (अचार, मुरब्बा, घुना हुआ अन्न, दहीबड़ा, अत्यन्त तुच्छफल, इत्यादि जो भी वस्तुये शास्त्रमें निषिद्ध हैं उनका त्याग करना चाहिये।) बत्तीस अगुल लम्बा, चौबीस अंगुल चौड़ा मोटा स्वच्छ वस्त्र लेकर उसे दोहरा करके पानी छानना चाहिये और वही छना हुआ जल पीने तथा अन्य काममें प्रयोग करना चाहिये। उस छाने हुए कच्चे पानीकी मर्यादा ४८ मिनटकी है। छाने हुए पानीमे यदि लौग, इलायची गोल मिरच इत्यादि कूटकर डाल दी जाय और वह इतनी मात्रामे डाली जाय कि पानीका रङ्ग और स्वाद बदल जाय तो उस जलकी मर्यादा दो पहर अर्थात् छह घण्टेकी है और जिस पानीको इतना उबाला जाय कि उसमें उछाला आने लगे उस औटाये हुए पानीकी मर्यादा २४ घण्टेकी है उसके पश्चात् वह भी किसी काममें नहीं लेना चाहिए। इस प्रकार पानीको उपयोगमें लेना चाहिये। तथा पानीका गालन भी, जिस कुएँ आदिसे पानी लाया गया हो, उसी कुएँ आदिमें डालना चाहिए–अन्यमें नही। (आटाकी मर्यादा शीतऋतुमे सात दिन, ग्रीष्ममें पांच दिन तथा बरसातमें तीन दिनकी है तत्पश्चात् ग्रहण नही करना।) इस तरह श्रावकको अपनी भोग–उपभोगकी सामग्रीमें विवेक रखकर त्याग और ग्रहण करना चाहिये।

विशेष कहते हैं:—

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥१६४॥

अन्वयार्थः—[धीमता] बुद्धिमान पुरुष [निजशक्तिं] अपनी शक्ति [अपेक्ष्य] देखकर [अविरुद्धाः] अविरुद्ध [भोगाः] भोग [अपि] भी [त्याज्याः] छोड़ देवे

और जो [अत्याज्येषु] उचित भोग-उपभोगका त्याग न हो सके तो उसमें [अपि] भी [एकदिवानिशोपभोग्यतया] एक दिवस-रातकी उपभोग्यतासे [सीमा] मर्यादा [कार्या] करनी चाहिये ।

टीकाः—'धीमता निजशक्तिं अपेक्ष्य अविरुद्धाः अपि भोगाः त्याज्याः तथा अत्याज्येषु अपि एक दिवानिशोपभोग्यतया सीमा कार्या ।'—अर्थः—बुद्धिमान श्रावक अपनी शक्तिका विचार करके, श्रावकके लिये खानेयोग्य पदार्थ है उसे भी जितना बन सके उतना छोड़ देवे और जो सर्वथा न छोड़ सके तो उसमें भी एक दिन, एक रात, एक सप्ताह, एक पक्ष, आदिकी मर्यादा करके क्रम क्रमसे छोड़े (अर्थात् यह भोग मुझे इतने ही कालमें भोगना है, अन्य कालमें मेरे त्याग है ऐसी मर्यादा कर लेवे) ।।१६४।।

अब विशेष कहते हैंः—

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम् ।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्त्तव्या ।।१६५।।

अन्वयार्थः—[पूर्वकृतायां] पहले की हुई [सीमनि] मर्यादामें [पुनः] फिरसे [अपि] भी [तात्कालिकीं] उस समयकी अर्थात् वर्तमान समयकी [निजां] अपनी [शक्तिम्] शक्तिको [समीक्ष्य] विचार कर [प्रतिदिवसं] प्रत्येक दिन [अन्तरसीमा] मर्यादामें भी थोड़ी मर्यादा [कर्त्तव्या भवति] करना योग्य है ।

टीकाः—'पुनरपि पूर्वकृतायां सीमनि तात्कालिकीं निजां शक्तिम् समीक्ष्य प्रतिदिवसं अन्तर सीमा कर्त्तव्या भवति ।'—अर्थः—पहले जो एक दिन, एक सप्ताह इत्यादि क्रमसे त्याग किया था उसमें भी अपनी वर्तमान शक्ति देखकर घड़ी, घन्टा, पहर इत्यादिकी थोड़ी थोड़ी मर्यादा करके जितना त्याग बन सके उतना त्याग करना । इस प्रकार अपने भोग-उपभोगकी सामग्रीके पदार्थोंकी सख्या तथा जितने कालकी मर्यादा कम कर सके उतनी अवश्य कम करना चाहिये । इसीमे आत्माका *कल्याण है ।।१६५।।

---

* यहाँ भूमिकानुसार ऐसा राग आता है उसका ज्ञान करानेके लिए उपदेशवचन है । आत्माका कल्याण तो अन्तरङ्गमें निजकारणपरमात्माके आश्रयसे होनेवाली शुद्धि=वीतराग भाव है । वहाँ अशुभसे बचनेके लिए जो शुभराग आता है उसे उपचारसे=व्यवहारसे भला कहनेकी रीति है ।

विशेष बताते हैंः—

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान् ।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥१६६॥

अन्वयार्थः—[यः] जो गृहस्थ [इति] इस प्रकार [परिमितभोगैः] मर्यादारूप भोगोंसे [सन्तुष्टः] सन्तुष्ट होकर [बहुतरान्] बहुतसे [भोगान्] भोगोको [त्यजति] छोड देता है [तस्य] उसके [बहुतरहिंसाविरहात्] अधिक हिंसाके त्यागसे [विशिष्टा अहिंसा] विशेष अहिंसाव्रत [स्यात्] होता है ।

टीकाः—'यः इति परिमितभोगैः सन्तुष्टः बहुतरान् भोगान् त्यजति तस्य बहुतरहिंसाविरहात् विशिष्ट अहिंसा स्यात् ।'—अर्थः—इस प्रकार जो श्रावक भोग–उपभोगके पदार्थोंसे सन्तुष्ट होता हुआ बहुतसे भोगोपभोगके पदार्थोंको छोड़ देता है उसके बहुत हिंसा न होनेसे विशेषरूपसे अहिंसाव्रत होता है ।

भावार्थः—जो श्रावक भोग–उपभोगके पदार्थोंको मर्यादापूर्वक त्याग करता ही रहता है उसके उतने ही अंशोमें सन्तोष प्रगट होकर लोभादि कषायके त्यागरूप सम्यक् अहिंसा प्रगट होती है । उस भोग उपभोगके निमित्तके अवलम्बन करनेसे हिंसारूप भाव होते थे उसका त्याग होनेसे भाव हिंसा नही हुई और पर जीवोंकी हिंसा न होनेसे द्रव्यहिंसा नही हुई तथा उतने ही अंशोमें लोभ कषायका त्याग हो जानेसे भावहिंसा भी नहीं हुई । इसलिये (अकषाय–ज्ञातास्वरूपमें सावधान ऐसे) त्यागी मनुष्यको अवश्य ही विशेष अहिंसा होती है । इस प्रकार भोगोपभोगपरिमाण नामक तीसरे शिक्षाव्रतका वर्णन किया ॥१६६॥

अब चौथा वैयावृत्त (अतिथि संविभाग) शिक्षाव्रतका वर्णन करते हैंः—

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय ।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥१६७॥

अन्वयार्थः—[दातृगुणवता] दातारके गुणोसे युक्त गृहस्थके द्वारा [*जातरूपाय-अतिथये] दिगम्बर मुनिको [स्वपरानुग्रहहेतोः] अपने और परके अनुग्रहके लिये

---

* जातरूपा—जन्मप्रमाण (निर्दोप) जैसे रूपमें था वैसा अर्थात नग्न दिगम्बर, अथवा उत्तम गुणों सहित अतिथि । अतिथि=जिसके आगमनकी तिथिका नियम न हो ।

[द्रव्यविशेषस्य] विशेष द्रव्यका अर्थात् देने योग्य वस्तुका [भागः] भाग [विधिना] विधिपूर्वक [अवश्यम्] अवश्य ही [कर्त्तव्यः] करना चाहिये।

टीकाः—'विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय अतिथये स्वपरानुग्रहहेतोः अवश्यं भागः कर्त्तव्यः।'—अर्थः—नवधाभक्तिपूर्वक तथा दातारके सप्तगुणोसे संयुक्त श्रावक है उसको दान देने योग्य वस्तुओंका जो गुणवान पात्र है उनको अपने तथा परके उपकारके लिए अवश्य दान करना चाहिए।

भावार्थः—श्रावक जो न्यायपूर्वक धन उपार्जन करते हैं उन्हें अपने धनमेंसे थोड़ा-बहुत धन चार प्रकारके संघके दान निमित्त अवश्य निकालना चाहिये और उसे उसका विधिपूर्वक दान देना चाहिए। ऐसा करनेसे उसके धनका सदुपयोग होगा, कर्मोकी निर्जरा होगी और चतुर्विध संघ अपने तपकी वृद्धि करेंगे ॥१६७॥

[आये हुए योग्य अभ्यागतको प्रतिदिन भोजनादिकका दान करके पश्चात् स्वयं भोजन करे ऐसा श्रावकोंका नित्यकर्म है, उसे अतिथिसंविभाग कहते हैं। उसमें जैसी विधि हो, जैसा दाता हो, जैसी वस्तुका दान करे तथा जैसा पात्र हो वैसा ही फल प्राप्त होता है।]

नवधा भक्तिके नामः—

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनः शुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥१६८॥

अन्वयार्थः—[च] और [संग्रहम्] प्रतिग्रहण [उच्चस्थानं] ऊँचा आसन देना [पादोदकं] चरण धोना [अर्चनं] पूजा करना [प्रणामं] नमस्कार करना [वाक्काय-मनः शुद्धिः] मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि रखना [च] और [एषणशुद्धिः] भोजन शुद्धि—इस प्रकार आचार्योंने [विधिम्] नवधा भक्तिरूप विधि [आहुः] कही है।

टीकाः—'संग्रहम्, उच्चस्थानं, पादोदकं, अर्चनं, प्रणामं, वाक्शुद्धिः, कायशुद्धिः, मनशुद्धिः, एषणशुद्धिः, इति विधिम् आहुः।'—१-संग्रह अर्थात् पड़गाहन करना, मुनिराजको बड़े आदरपूर्वक भोजनके लिये विनती करते हुए अपने घरमें प्रवेश कराना २-उच्चस्थान अर्थात् घरमें लेजाकर उन्हें उच्च आसन पर बैठाना, ३-पादोदक अर्थात् प्रासुक-निर्दोष जलसे चरण धोना, ४-अर्चन अर्थात् उत्तम अष्टद्रव्यसे उनकी पूजा

करना अथवा केवल अर्घ चढ़ा देना, ५-प्रणाम अर्थात् पूजनके बाद नम्रीभूत होकर नमस्कार करना और तीन प्रदक्षिणा देना, ६-वाक्शुद्धि अर्थात् विनयपूर्वक वचन बोलना, ७-कायशुद्धि अर्थात् अपने हाथ और शरीर शुद्ध रखना तथा उनकी सेवा करना, ८-मनशुद्धि अर्थात् मन शुद्ध करते हुए दान देनेमें भक्ति और सेवारूप परिणाम रखना-खोटा परिणाम न करना। ९-एषणशुद्धि अर्थात् आहारकी शुद्धि रखना, आहारकी सभी वस्तुयें निर्दोष रखना। इस प्रकार नवधाभक्ति पूर्वक ही दान देनेका विधान कहा है अतः इसी तरह आहार दान देना चाहिए। यह नवधाभक्ति मुनिमहाराजके लिये ही है, अन्यके लिये तो योग्यतानुसार होनी चाहिये।

(भावार्थः—जो उत्तम पात्र हैं अर्थात् मुनिराज हैं उन्हे इन नव प्रकारके विधानपूर्वक ही दान देना चाहिये। शेष जो मध्यम और जघन्य पात्र हैं उनके दानमें यथायोग्य हीनाधिक अपना तथा पात्रका गुण विचारकर विधान करना। और जो अपात्र हैं उनके लिये प्रतिग्रहादि विधान नहीं करना क्योंकि विषय कषाय संयुक्त अश्रद्धानी-पापी जीवोंका आदर-सत्कार करनेसे महापाप उत्पन्न होता है और उनके पापकी अनुमोदना आती है अतः अपात्रोंकी भक्ति नही करना। यदि कोई अपात्र दीन-दुखी और पीड़ित दिखाई पड़े तो दया करके उसका दुख निवारण कर देना परन्तु उसका (धर्म-बुद्धिसे) आदर-सत्कार नही करना) ॥१६८॥

अब दातारके सात गुण बताते हैंः—

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥१६९॥

अन्वयार्थः—[ऐहिकफलानपेक्षा] इस लोक सम्बन्धी फलकी इच्छा न रखना, [क्षान्ति] क्षमा अथवा सहन शीलता, [निष्कपटता] निष्कपटता, [अनसूयत्व] ईर्षारहित होना, [अविषादित्वमुदित्वे] अखिन्नभाव, हर्षभाव और [निरहङ्कारित्व] अभिमान रहित होना [इति] इस प्रकार यह सात [हि] निश्चयसे [दातृगुणाः] दातारके गुण हैं।

टीकाः—'हि ऐहिकफलानपेक्षा, क्षान्तिः, निष्कपटता, अनसूयत्वं, अविषादित्वं, मुदित्वं, निरहङ्कारित्वम् इति सप्त दातृगुणाः सन्ति'।—अर्थ.—१-ऐहिकफल अनपेक्षा—दान देकर इस लोक सम्बन्धी यश-सौभाग्य आदि अथवा अच्छे भोगोपभोगकी सामग्री मिलने

आदिकी इच्छा न करे। २-क्षान्ति—दान देते समय क्षमाभाव धारण करे। ३-निष्कपटता—कपट न करना—बाहरमें भक्ति करे और अन्तरङ्गमें परिणाम खराब रखे ऐसा नहीं करना। ४-अनसूयत्व—दूसरे दातारके प्रति ईर्षाभाव-दुर्भाव न रखना अर्थात् अपने घर मुनिराजका आहार न हो और दूसरेके घर हो जाय तो दूसरेके प्रति बुराभाव न करना। ५-अविषादित्व—विषाद न करना अर्थात् हमारे यहाँ अच्छी वस्तु थी वह हमने उनको यों ही देदी, अथवा हमारे यहाँ अच्छी वस्तु थी वह हम नहीं दे सके, ऐसा खिन्न परिणाम न करे। ६-मुदित्व—दान देकर हर्ष बहुत करे अर्थात् अत्यन्त आनन्दित होवे। ७-निरहङ्कारित्व—अभिमान न करना अर्थात् हम बड़े दातार हैं ऐसा मनमें अभिमान न करना। इस प्रकार यह *सात गुण दातारके हैं वह प्रत्येक दातारमें अवश्य होना चाहिये। इस भाँति नव प्रकारकी भक्तिपूर्वक तथा सात गुण संयुक्त जो दातार दान देता है वह दान विशेष फल प्रदान करता है। यदि यह गुण दातारमें न हो तो वह दिया हुआ दान बहुत फल देनेवाला नही होता ॥१६९॥

किन वस्तुओंका दान करना चाहिये यह अब बताते हैं:—

रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्याय वृद्धिकरम् ॥१७०॥

अन्वयार्थः—[यत्] जो [द्रव्यं] द्रव्य [रागद्वेषासंयममदद्‌दुःखभयादिकं] राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदि [न कुरुते] नही करता हो और [सुतपः स्वाध्याय वृद्धिकरम्] उत्तम तप तथा स्वाध्यायकी वृद्धि करनेवाला हो [तत् एव] वही [देयं] देने योग्य है।

टीकाः—'यत् (वस्तु) रागद्वेष असंयम मद दुःख भयादिकं न कुरुते तत् एव सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरं द्रव्यं देयं'।—अर्थः—जो वस्तु राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख और भयकी उत्पत्तिका कारण न हो तथा जो वस्तु तप व शास्त्रस्वाध्यायको वढ़ानेवाली हो उसीका ही दान करना चाहिये। जिस द्रव्यका दान देनेसे अपने कर्मोकी निर्जरा हो और पात्र-जीवोको तप, स्वाध्याय आदिकी वृद्धि हो ऐसे द्रव्यका ही दान श्रावकको देना

* रत्नकरण्डश्रावकाचार गाथा १३३ में दाताके सात गुण इस भाँति हैं—१-भक्तिधर्ममें तत्पर रहकर, पात्रोंके गुणोंके सेवनमें लीन रहकर पात्रको अंगीकार करे, प्रमादरहित, ज्ञानसहित, शान्तपरिणामी हुआ पात्रकी भक्तिमें प्रवर्त्ते। २-तुष्टि=देनेमें अति आसक्त, पात्र लाभको परम निधानका लाभ माने। ३-श्रद्धा ४-विज्ञान ५-अलोलुप ६-सात्त्विक ७-क्षमा।

चाहिये । किन्तु ऐसा गरिष्ठ भोजन आदि नही देना चाहिये जिससे आलस्य आदिकी वृद्धि हो । ऐसा उत्कृष्ट दान चार प्रकारका है । १–आहारदान—क्षुधा निवारणके लिए तथा शरीरकी स्थिरताके लिए आहार देना प्रथम दान है । २–औषधदान—रोगादिकी पीड़ा दूर करनेके लिए दवा देना द्वितीय दान है । ३–ज्ञानदान—अज्ञानका नाश और ज्ञानका विकास करनेके लिए शास्त्र आदिका देना तृतीय ज्ञानदान है । ४–अभयदान—भय निवारण करना तथा जंगलमें झोंपड़ी, वसतिका, धर्मशाला, आदि बनवाना, अँधेरे मार्गमें प्रकाशकी व्यवस्था इत्यादि करवाना चतुर्थ दान है । (अथवा—भिक्षा, उपकरण, औषध, प्रतिश्रयके भेदसे चार प्रकारका दान है । भिक्षा अर्थात् आहार, उपकरण, अर्थात् धर्मके लिए उपकारी शास्त्रादि, औषध अर्थात् रोग मेटनेके लिए दवा, प्रतिश्रय अर्थात् वसतिका—इनका दान देना योग्य है ।) इस प्रकार आत्मकल्याणके निमित्त दान देना वही वास्तविक दान है परन्तु जिन वस्तुओंके दान देनेसे संसारके विषय आदि तथा रागद्वेषकी वृद्धि हो ऐसा दान नहीं देना चाहिए ।

भावार्थः—(जैसे पृथ्वी, मकान, घोड़ा, हाथी, गाय, सोना, चाँदी, स्त्री, शस्त्र इत्यादि जो वस्तुयें रागादिभावकी उत्पन्न करनेवाली हों अथवा कामोद्दीपनादि विकार भावोंको उत्पन्न करनेवाली हो अथवा विषादिक वस्तुये जो दुख देनेवाली हो उनका दान नहीं देना चाहिये क्योंकि यह सब कुदान हैं । इनके दान देनेसे हलकी गतिके बन्धके अलावा और कुछ नही होता अतः ऐसा कुदान नहीं करना चाहिए) ॥१७०॥

अब पात्रोंका भेद बताते हैं:—

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम् ।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१॥

अन्वयार्थः—[मोक्षकारणगुणानाम्] मोक्षके कारणरूप गुणोंके अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुणोंके [संयोगः] संयोगवाला [पात्रं] पात्र [अविरतसम्यग्दृष्टिः] व्रतरहित सम्यग्दृष्टि [च] तथा [विरताविरतः] देशव्रती [च] और [सकलविरतः] महाव्रती [त्रिभेदं] तीन भेदरूप [उक्तम्] कहा गया है ।

टीकाः—'मोक्षकारणगुणानां संयोगः पात्रं त्रिभेदं उक्तम् सकलविरतः च विरताविरतः च अविरतसम्यग्दृष्टि च इति ।'—अर्थः—मोक्षका कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकतारूप संयोग जिसमे पाया जाय वह पात्र कहलाता है । वह उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारके हैं ।

भावार्थः—सकलचारित्र और सम्यक्त्वसहित महामुनि उत्तम पात्र हैं, देशचारित्र और सम्यक्त्वसहित श्रावक मध्यम पात्र है और व्रतरहित सम्यक्त्वसहित श्रावक जघन्य पात्र हैं। जिस जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है वही पात्र कहे जाने योग्य है। सम्यग्दर्शनके अभावमें किसी प्रकारकी पात्रता नही हो सकती इसलिये द्रव्यलिंगी मुनि पात्र नही है अपितु उत्तम कुपात्र है, क्योंकि उसे सम्यग्दर्शन नही है। अब यहाँ विचारनेकी बात यह है कि पात्रका भेद व्यवहारसम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे है अथवा निश्चयसम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे ? यदि निश्चयसम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे माना जाय तब तो उत्तम पात्रकी पहिचान करना साधारण जनकी बुद्धिके बाहरकी बात है, और यदि व्यवहार-सम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे माना जाय तो प्रथम गुणस्थानवाला जीव भी व्यवहारसम्यग्दृष्टि हो सकता है और वह उत्तम पात्रकी गणनामें आ सकता है। इसलिये द्रव्यलिंगी मुनि भी उत्तमपात्र हो सकता है और यही ठीक भी लगता है। कारण कि पात्रकी पहिचान करना श्रावकका कार्य है। श्रावक जिस बातकी जितनी परीक्षा कर सकता है उतनी ही करेगा, अतः द्रव्यलिंगीको भी (व्यवहार) पात्रता हो सकती है। इसलिये व्यवहारसम्यग्दर्शनसे पात्रोंकी परीक्षा करके उनको यथायोग्य विनय, आदरपूर्वक दान देना योग्य है (अर्थात् जो पात्र व्यवहार रत्नत्रयसे संयुक्त हों उसे यथायोग्य विनयपूर्वक दान देना उचित है।) इसके अतिरिक्त दुखी जीवोंको करुणा भावसे दान देना चाहिए, भक्तिभावसे नही। [क्योंकि उन मिथ्यादृष्टि पापी जीवोंकी विनयसे विनयमिथ्यात्व होता है तथा उनके पापकी अनुमोदनासे स्वयं भी उनके समान पापी होता है।]

जो दुखी नहीं हैं, अपनी आजीविका करनेमें समर्थ है, व्यसनी और व्यभिचारी हैं उन्हें दान नहीं देना चाहिये। उनको दान देनेसे अनेक पाप उत्पन्न होते हैं अतः उन्हें दान कदापि न देवे। उत्तम पात्रको दान देनेसे उत्तम भोगभूमि, मध्यमपात्रको दान देनेसे मध्यम भोगभूमि, और जघन्यपात्रको दान देनेसे जघन्य भोगभूमि तथा कुपात्रको दान देनेसे कुभोगभूमि मिलती है। और अपात्रको दान देनेसे नरकादि गतिकी प्राप्ति होती है।

जैसा कि रयणसारमें कहा है किः—

"सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाण सोहं वा।
लोहीणं दाणं जई विमाण सोहा सव्वस्स जाणेहं ॥२६॥"

अर्थः—सत्पुरुषोंको दान देना तो कल्पवृक्षकी तरह शोभायमान है अर्थात् शोभा भी होती है और मनवांछित फलकी प्राप्ति भी होती है। तथा लोभी, पापी पुरुषोको दान देना मुर्देके विमानकी तरह शोभा है अर्थात् शोभा तो होती है परन्तु दुख भी होता है। जैसे मुर्देकी ठठरीका विमान बनाकर उसे सजाकर निकालनेसे लोकमें कीर्ति और शोभा तो होती है परन्तु घरके धनी (स्वामी)को दुखदायक होता है, इसी प्रकार लोभी, अपात्रको दान देनेसे लोकमें यश तो होता है परन्तु दातारको महान पाप उत्पन्न होता है और उसका फल बुरा मिलता है, अच्छा नहीं मिलता। ऐसा जानकर पात्र अपात्रका विचार करके ही दान देना योग्य है ॥१७१॥

दान देनेसे हिंसाका त्याग होता हैः—

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥१७२॥

अन्वयार्थः—[यतः] कारण कि [अत्र दाने] यहाँ दानमें [हिंसायाः] हिंसाकी [पर्यायः] पर्याय [लोभः] लोभका [निरस्यते] नाश करनेमें आता है; [तस्मात्] इसलिये [अतिथिवितरणं] अतिथिदानको [हिंसाव्युपरमणमेव] हिंसाका त्याग ही [इष्टम्] कहा है।

टीकाः—'यतः अत्र दाने हिंसायाः पर्यायः लोभः निरस्यते तस्मात् अतिथि वितरणं हिंसाव्युपरमणं एव इष्टम्'।—अर्थः—इस दानमें हिंसाका एक भेद जो लोभ है उसका त्याग होता है क्योंकि लोभ छूटने पर अपनी वस्तु दी जाती है इसलिये अतिथि पात्रको दान देना हिंसाका ही त्याग है।

भावार्थः—वास्तवमें जब अपने अन्तरंग कषाय जो लोभ है उसका त्याग होने पर ही अपने परिणाम बाह्य वस्तुको वितरण करनेके होते हैं, इसलिये लोभ कषायका त्याग ही वास्तविक दान है और वह लोभ कषाय भावहिंसाका एक भेद है, इसलिये जो सत्पुरुष दान करते हैं वे ही वास्तवमें अहिंसाव्रतका पालन करते हैं ॥१७२॥

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ॥१७३॥

अन्वयार्थः—[यः] जो गृहस्थ [गृहमागताय] घर पर आये हुए [गुणिने] संयमादि गुणोंसे युक्त और [मधुकरवृत्त्या] भ्रमर समान वृत्तिसे [परान्] दूसरोंको

[अपीडयते] पीड़ा न देनेवाले [अतिथये] अतिथि साधुको [न वितरति] भोजनादि नही देता, [सः] (वह [लोभवान्] लोभी [कथं] कैसे [न हि भवति] न हो) ?

टीकाः—'यः गृहमागताय गुणिने परान् अपीडयते अतिथये न वितरति सः लोभवान् कथं न भवति ।'—अर्थः—अपने आप स्वयमेव घर पर आये हुए तथा रत्नत्रयादि गुण सहित और भ्रमर जैसी वृत्तिसे दाताको कष्ट न पहुँचानेवाले अतिथि मुनि महाराज इत्यादि है, उनको जो गृहस्थ-श्रावक दान नही देता वह लोभ-हिंसा संयुक्त कैसे न हो ? अवश्य ही हो । (क्योंकि अन्तरङ्ग महा कृपण बुद्धिके कारण ही तीव्र लोभ पाया जाता है इसीलिये अतिथिको दान देनेके भाव नही होते ।)

भावार्थः—जिस प्रकार भौरा सभी फूलोंकी वासना लेता है परन्तु किसी भी फूलको पीड़ा नही पहुँचाता उसी प्रकार मुनि महाराज आदि अतिथि भी किसी भी श्रावक गृहस्थको किसी भी प्रकारको बाधा-पीड़ा न पहुँचाते हुए आहारादिक ले लेते हैं, उनसे यह नही कहते कि तुम मेरे लिये भोजन बनाओ अथवा भोजन दो । परन्तु श्रावक जब स्वयं आदर-भक्तिपूर्वक बुलाता है तब वह थोड़ासा रूखा-सूखा शुद्ध प्रासुक जो भी आहार मिल जाय वह ग्रहण कर लेते है । इसलिये जो श्रावक ऐसे महा-संतोषी व्रतियोंको भी दान नही देता वह अवश्य हिंसाका भागीदार होता है और उसके अतिथिसंविभागव्रत कदापि नही होता ।।१७३।।

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः ।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ।।१७४।।

अन्वयार्थः—[आत्मार्थं] अपने लिए [कृतम्] बनाया हुआ [भक्तम्] भोजन [मुनये] मुनिको [ददाति] देवे [इति] इस प्रकार [भावितः] भावपूर्वक [अरति-विषादविमुक्तः] अप्रेम और विषादरहित तथा [शिथिलितलोभः] लोभको शिथिल करनेवाला [त्यागः] दान [अहिंसा एव] अहिंसा स्वरूप ही [भवति] है ।

टीकाः—'आत्मार्थं कृतं भुक्तम् मुनये ददाति इति भावितः त्यागः अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभः अहिंसैव भवति' ।—अर्थः—जो श्रावक अपने लिये बनाया हुआ भोजन वह मैं 'मुनि महाराजको देता हूँ' इस प्रकार त्यागभावको अंगीकार करके, दान देनेमें अरति-पश्चाताप, विषाद आदि दोषोका त्याग करके जिसका लोभ शिथिल हुआ है ऐसे श्रावकके अवश्य अहिंसा होती है ।

भावार्थः—इस अतिथिसंविभाग-वैयावृत्त शिक्षाव्रतमें द्रव्य-अहिंसा तो प्रगट ही है क्योंकि दान देनेसे परजीवकी क्षुधा-तृषाकी पीड़ा मिटकर दुःख दूर होता है तथा दातार लोभकषायका त्याग करता है इसलिये भाव-अहिंसा भी होती है अर्थात् दान देनेवाला पूर्ण अहिंसाव्रतका पालन करता है। इस प्रकार सात शीलव्रतोंका वर्णन पूरा हुआ ॥१७४॥

(यहाँ तक श्रावकके बारह व्रतोंका वर्णन पूरा हुआ)

सल्लेखनाधर्म व्याख्यान

इस प्रकार सम्यक्त्वसहित पाँच अणुव्रतोंको धारण करके सात शीलव्रतोंको पालन करके अन्तमें सल्लेखना अंगीकार करना चाहिए।

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम्।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥१७५॥

अन्वयार्थः—[इयम्] यह [एका] एक [पश्चिमसल्लेखना एव] मरणके अन्तमें होनेवाली सल्लेखना ही [मे] मेरे [धर्मस्वं] धर्मरूपी धनको [मया] मेरे [समं] साथ [नेतुम्] ले जानेमें [समर्था] समर्थ है [इति] इस प्रकार [भक्त्या] भक्ति सहित [सततम्] निरन्तर [भावनीया] भावना करनी चाहिये।

टीकाः—'इयम् एकैव मे धर्मस्वं मया समं नेतुम् समर्था इति इतौः पश्चिमसल्लेखना भक्त्या सततं भावनीया।'—अर्थः—यह मात्र अकेली सल्लेखना ही मेरे धर्मको मेरे साथ ले जानेमें समर्थ है इसलिये हर एक मनुष्यको इस अन्तिम सल्लेखना अथवा समाधिमरणकी भक्तिपूर्वक सदा भावना करना चाहिये।

भावार्थः—संसारके कारण मिथ्यात्व तथा क्रोधादि कषाय हैं और उन्हीके निमित्त कारण आहार आदि परिग्रहमें इच्छा है। (स्वसन्मुखताके बलके द्वारा) इन सभीका घटाना ही सल्लेखना कहलाता है। यह सल्लेखना भी दो प्रकारकी है। एक क्रम क्रमसे त्याग करना और दूसरी सर्वथा त्याग करना (अर्थात् अनुक्रमसे आहारका कम करना अथवा सर्वथा त्याग करना काय सल्लेखना है तथा क्रोधादि कषायका घटाना अथवा त्याग करना कषाय सल्लेखना है।) अतः विचार करके श्रावकको अपने मरणके अन्त समय अवश्य ही सल्लेखना करनो चाहिए। मैंने जीवनपर्यन्त जो पुण्यरूप कार्य किया है तथा धर्मका पालन किया है उस धर्मरूपी धनको मेरे साथ ले चलनेको यह एक सल्लेखना ही समर्थ है। (अब यदि मरण समय सन्यास धारण करेंगे तो सर्व धर्म परलोकमें मेरे साथ जायगा और जो यहाँ परिणाम भ्रष्ट हो गए तो दुर्गतिमें गमन होगा इसलिए ऐसी भावना पूर्वक श्रावकको अवश्य ही समाधिमरण करना योग्य है ॥१७५॥

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना *सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि-पालयेदिदं शीलम् ॥१७६॥

अन्वयार्थः—[अहं] मैं [मरणान्ते] मरणके समय [अवश्यं] अवश्य [विधिना] शास्त्रोक्त विधिसे [सल्लेखनां] समाधिमरण [करिष्यामि] करूँगा [इति] इस प्रकार [भावना परिणतः] भावनारूप परिणति करके [अनागतमपि] मरणकाल आनेसे पहले ही [इदं] यह [शीलम्] सल्लेखनाव्रत [पालयेत्] पालना अर्थात् अंगीकार करना चाहिये।

टीकाः—'अहं मरणान्ते अवश्यं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि—इति भावना परिणतः अनागतं अपि शीलं पालयेत्'।—अर्थः—मैं मरण समय अवश्य ही विधिपूर्वक समाधि-मरण करूँगा—ऐसी भावना सहित श्रावक, जो प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे शील (स्वभाव)को प्राप्त कर लेता है। [सल्लेखना कहो या सन्यास कहो, उसका धारण तो मरणान्तमें होगा अर्थात् समय समय इस जीवकी आयु घटनेकी अपेक्षा प्रति समय मरण हो रहा है और उसके अन्तमें सन्यास धारण किया जायगा परन्तु पहलेसे ही ऐसी प्रतिज्ञा करना कि मैं मरणकालमें सन्यास धारण करूँगा ही—अतः इस प्रतिज्ञाकी अपेक्षा यह शील पहले ही पालन करनेमें आ जाता है।]

भावार्थः—श्रावकको इस बातका विचार सदैव करना चाहिए कि मैं अपने मरण समय अवश्य सल्लेखना धारण करूँगा। कारण कि मरण समय प्रायः मनुष्योंके परिणाम बहुत दुखी हो जाते हैं तथा कुटुम्बीजनों व धनादिसे ममत्वभाव नहीं छूटता। जिसका ममत्वभाव छूट जाता है उसीके सल्लेखना होती है। ममत्वभाव छूटनेसे पापका वन्ध न होनेके कारण नरकादि गतिका बन्ध भी नहीं होता, इसलिये मरण समय अवश्य ही सल्लेखना करनेके परिणाम रखना चाहिये ॥१७६॥

सल्लेखना आत्मघात नहीं है।

मरणेऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥१७७॥

---

* सत्=सम्यक्प्रकारसे, लेखना=कषायको क्षीण-कृश करनेको सल्लेखना कहते हैं। उसके अभ्यन्तर और बाह्य दो भेद हैं। कायके कृश करनेको बाह्य और अन्तरङ्ग क्रोधादि कषायोंके कृश करनेको अभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं।

अन्वयार्थः—[अवश्यं] अवश्य [भाविनि] होनेवाले [मरणे 'सति'] मरण होने पर [कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे] कषाय सल्लेखनाके कृश करने मात्रके व्यापारमें [व्याप्रियमाणस्य] प्रवर्त्तमान पुरुषको [रागादिमन्तरेण] रागादिभावोंके अभावमें [आत्मघातः] आत्मघात [नास्ति] नही है ।

टीकाः—'अवश्यं भाविनि मरणे कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य आत्मघातः न अस्ति ।'—अर्थः—अवश्यंभावी जो मरण है तब कषायके त्याग करते हुए, राग द्वेष बिना ही प्राणत्याग करनेवाला जो मनुष्य है उसको आत्मघात नही हो सकता ।

भावार्थः—यहाँ कोई कहेगा कि सन्यासमें तो अपघातका दोष आता है ? उसका समाधान—सल्लेखना करनेवाला पुरुष जिस समय अपने मरणको अवश्यम्भावी जानता है तब सन्यास अंगीकार करके कषायको घटाता और रागादिको मिटाता है इसलिये अपघातका दोष नही है । उसकी ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं जबर्दस्तीसे मरण करूँ अपितु उसका अभिप्राय ऐसा है कि जब बलात्‌रूपसे मरण होने ही लगे तब मेरे परिणाम शुद्ध रहे और मै सांसारिक विषय-भोगोसे ममत्व त्याग दूँ । उसके मरणमें यदि राग-द्वेष हो तो आत्मघात होता है, किन्तु जो मनुष्य रागद्वेषका त्याग कर रहा है उसे आत्मघात हो सकता नही ॥१७७॥

आत्मघाती कौन है वह अब बताते हैंः—

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः ।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥१७८॥

अन्वयार्थः—[हि] निश्चयसे [कषायाविष्टः] क्रोधादि कषायोंसे घिरा हुआ [यः] जो पुरुष [कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः] श्वासनिरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादिसे अपने [प्राणान्] प्राणोंको [व्यपरोपयति] पृथक् करता है [तस्य] उसे [आत्मवधः] आत्मघात [सत्यम्] वास्तवमें [स्यात्] होता है ।

टीकाः—'हि यः (श्रावकः) कषायाविष्टः (सन्) कुम्भकजल-धूमकेतु-विष-शस्त्रैः प्राणान् व्यपरोपयति तस्य आत्मवधः सत्यम् स्यात् ।'—अर्थः—जो जीव क्रोधादि कषाय सयुक्त होकर श्वास निरोध करके अर्थात् फाँसी लगाकर, जलमें डूबकर, अग्निमे जलकर, विष भक्षण कर, या शस्त्रादिके द्वारा अपने प्राणोंका वियोग करता है उसको सदाकाल अपघातका दोष लगता है ।

भावार्थः—जो जीव क्रोध–मान–माया–लोभादि कषायोंकी तीव्रतासे (अथवा इष्टवियोगके खेदसे या आगामी निदानके वश होकर) अपने प्राणोंका घात करता है उसको ही आत्मघातका दोष लगता है। विशेषः—सल्लेखनाधर्म (समाधिमरण विधि) मुनि और गृहस्थ दोनोंके लिये है, सल्लेखना अथवा सन्यासमरणका एक ही अर्थ है, अतः बारह व्रतोंके बाद सल्लेखनाका वर्णन किया है। इस सल्लेखनाव्रतकी उत्कृष्ट मर्यादा बारह वर्ष तककी हैः—ऐसा श्री वीरनन्दी आचार्यकृत यत्याचार नामक ग्रन्थमें कहा है। जब शरीर किसी असाध्य रोगसे अथवा वृद्धावस्थासे असमर्थ हो जाय, देव–मनुष्यादिकृत कोई दुर्निवार उपसर्ग आ पड़े, कोई महा दुष्कालसे धान्यादि भोज्य पदार्थ दुष्प्राप्य हो जायें अथवा धर्मका नाश करनेवाला कोई विशेष कारण उपस्थित हो जाय तब अपने शरीरको पके हुए पानके समान अथवा तेलरहित दीपकके समान स्वयमेव विनाशके सन्मुख हुआ जानकर, सन्यास धारण करे। यदि मरणमें किसी प्रकारका सन्देह हो तो मर्यादापूर्वक ऐसी प्रतिज्ञा करे, कि जो इस उपसर्गमें मेरा आयु पूर्ण हो गया तो (मृत्यु हो गई तो) मेरे आहारादिका सर्वथा त्याग है और यदि कदाचित जीवन शेष रहेगा तो आहारादिकको ग्रहण करूँगा। यह सन्यास ग्रहण करनेका क्रम है।

रोगादिक होने पर यथाशक्ति औषध करे परन्तु जब रोग असाध्य हो जाय, किसी प्रकार भी उपचारसे लाभ न हो तो ऐसी दशामें यह शरीर, दुष्ट समान सर्वथा त्याग करने योग्य कहा है, और इच्छित फल दाता धर्म विशेषतासे पालन करने योग्य कहा है। शरीर तो मरनेके बाद दूसरा भी मिलेगा परन्तु धर्मपालन करनेकी योग्यता प्राप्त करना अतिशय दुर्लभ है। इस कारण विधिपूर्वक शरीरके त्यागमें शोकाकुल–दुखी न होकर संयमपूर्वक मन–वचन–कायका उपयोग आत्मामें केन्द्रित करना चाहिये और 'जन्म, जरा तथा मृत्यु शरीर सम्बन्धित है, मुझे नहीं है'—ऐसा चिन्तवन करके निर्ममत्वी होकर, विधिपूर्वक आहार घटाकर, अपने त्रिकाली अकषाय ज्ञातामात्र स्वरूपके लक्ष्यसे काय कृश करना चाहिये और शास्त्रामृतके पानसे तथा स्वसन्मुखता द्वारा कषायोंको कृश करना चाहिये, पश्चात् चार *प्रकारके संघकी साक्षीसे समाधिमरणमें सावधान उद्यमवन्त होना चाहिये।

अन्तकी आराधनासे चिरकालकी की हुई सम्यक् व्रत–नियमरूप धर्म–आराधना सफल हो जाती है, क्योंकि उससे क्षणमात्रमें दीर्घकालसे संचित पापका नाश हो जाता

* चार प्रकारका संघ=मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका।

है। और यदि अन्त मरण बिगड़ जाय अर्थात् असंयमपूर्वक या शरीरमें एकताबुद्धिपूर्वक मृत्यु हो जाय तो जीवन भरकी की हुई धर्माराधना निष्फल हो जाती है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि—"यदि अन्त समय समाधिमरण कर लेनेसे ही क्षणमात्रमें पूर्वसंचित पापोंका नाश हो जाता है तो फिर युवावस्थामें धर्म करनेकी क्या आवश्यकता है ? अन्त समय सन्यास धारण कर लेनेसे ही सब मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे" तो उसका समाधान—जो जीव अपनी पूर्वावस्थामें धर्मसे विमुख रहे हैं अर्थात् जिन्होंने तत्त्वज्ञानपूर्वक व्रत–नियम आदि धर्माराधना नही की है वे जीव अन्तकालमें धर्मसन्मुख अर्थात् सन्यासयुक्त कभी नही हो सकते। क्योंकि–चन्द्रप्रभचरित्र प्रथम सर्गमें कहा है कि—'चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरितागुणेषु दोषेषु च जायते मतिः' अर्थात् चिरकालके अभ्याससे प्रेरित करनेमें आई हुई बुद्धि गुण अथवा दोषोंमें जाती है। जो वस्त्र पहलेसे ही उज्ज्वल हो तो उसके ऊपर मनपसन्द रङ्ग चढ़ सकता है किन्तु यदि वस्त्र पहलेसे ही मैला हो तो उसके ऊपर कभी भी रङ्ग नही चढ़ सकता। इसलिये समाधिमरण वही धारण कर सकता है जो प्रथम अवस्थासे ही धर्मकी आराधनामे बराबर सावधान रहा हो। हाँ, किसी स्थान पर कभी ऐसा भी देखनेमें आता है कि जिसने आजीवन धर्मसेवनमे चित्त नही लगाया हो वह भी अपूर्व विवेकका बल प्राप्त करके समाधिमरण अर्थात् सन्यासपूर्वक मरण करके स्वर्गादिक सुखोंको प्राप्त हो गया परन्तु वह तो काकतालीय न्यायवत् अति कठिन है (ताड़वृक्षसे फल टूटकर उड़ते हुए कौवेके मुखमें प्राप्त हो जाना जितना कठिन है उतना ही सस्कारहीन जीवनसे समाधिमरण पाना कठिन है।) इसलिये सर्वज्ञ वीतरागके वचनोंमें जिसे श्रद्धा है उसे उपरोक्त शकाको अपने चित्तमें कदापि स्थान नही देना चाहिये।

समाधिमरणके इच्छुक पुरुष जहाँ तक बन सके वहाँ तक जिनेश्वर भगवानकी जन्मादि तीर्थभूमियोका आश्रय ग्रहण करे, जो ऐसा न बन सके तो मन्दिर अथवा संयमीजनोके आश्रयमें रहे। सन्यासार्थी तीर्थक्षेत्रको जाते समय सभीसे क्षमा याचना करें तथा स्वयं भी मन–वचन–कायपूर्वक सबको क्षमा करें। अन्त समयमें क्षमा करनेवाला संसारका पारगामी होता है और वैर–विरोध रखनेवाला अर्थात् क्षमा न रखनेवाला अनन्त संसारी होता है। सन्यासार्थीको पुत्र, स्त्री एवं कुटुम्बीजनोसे तथा सांसारिक सर्व सम्पदासे सर्वथा मोह छोड़कर (निर्मोही निज आत्माका भजन करना चाहिये।) उत्तम साधक धर्मात्माओंकी सहायता लेनी चाहिये क्योंकि साधर्मी तथा आचार्योंकी

सहायतासे अशुभकर्म यथेष्ट बाधाका कारण नहीं बन पाता। व्रतके अतीचारोंको साधर्मियों अथवा आचार्यके सन्मुख प्रगट करके निःशल्य होकर प्रतिक्रमण–प्रायश्चित आदि शास्त्रमें वर्णित विधियोसे शोधन करना चाहिए।

निर्मलभावरूपी अमृतसे सिंचित समाधिमरणके लिए पूर्व अथवा उत्तर दिशाकी तरफ मस्तक रखे। जो श्रावक महाव्रतकी याचना करे, तो निर्यापक आचार्यको उचित है कि उसे महाव्रत देवे, महाव्रत ग्रहणमें नग्न होना चाहिये। अर्जिकाको भी अन्तकाल उपस्थित होने पर एकान्त स्थानमें वस्त्रोका त्याग करना उचित कहा गया है। सन्यास लेनेके समय (–समाधिमरणके पूर्वकी विधिके समय) अनेक प्रकारके योग्य आहार दिखाकर भोजन करावे। अथवा यदि उसे अज्ञानतावश भोजनमें आसक्त समझे, तो परमार्थके ज्ञाता आचार्य उसे उत्तम प्रभावशाली व्याख्यान द्वारा ऐसे समझावे—

हे जितेन्द्रिय, तूं भोजन–शयनादिरूप कल्पित पुद्‌गलोंको अब भी उपकारी समझता है! और ऐसा मानता है कि इनमेसे कोई पुद्‌गल ऐसा भी है कि जो मैने कभी भोगा नही है। यह तो महान आश्चर्यकी बात है! भला विचार तो कर कि यह मूर्तिक पुद्‌गल तेरे अरूपीमें क्या किसी प्रकार मिल सकता है? मात्र इन्द्रियोंके ग्रहण पूर्वक उसका अनुभव करके तूने ऐसा मान लिया है कि मैं ही उसका भोग करता हूँ। तो हे! दूरदर्शी, अब ऐसी भ्रान्त बुद्धिको सर्वथा छोड़ दे और निर्मलज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्वमें लवलीन हो। यह वही समय है कि जिसमें ज्ञानी जीव शुद्धतामें सावधान रहता है और भेदज्ञानके बलसे चिन्तवन करता है कि 'मैं अन्य हूँ और यह पुद्‌गल देहादि मेरेसे सर्वथा भिन्न जुदे ही पदार्थ है।' इसलिये हे महाशय! पर द्रव्योसे तुरन्त ही मोह त्याग और अपने आत्मामें निश्चल–स्थिर रहनेका प्रयत्न कर। यदि किसी पुद्‌गलमे आसक्त रहकर मरण पायेगा तो याद रख कि तुझे हलका–तुच्छ जन्तु होकर, इन पुद्‌गलोका भक्षण अनन्तवार करना पड़ेगा। इस भोजनसे तू शरीरका उपकार करना चाहता है जो किसी प्रकार भी उचित नही है। क्योंकि शरीर इतना कृतघ्नी है कि वह किसीके किए हुए उपकारको नही मानता, इसलिये भोजनकी इच्छा छोड़कर, केवल आत्महितमें चित्त लगाना ही बुद्धिमत्ता है।

इस प्रकार हितोपदेशरूपी अमृतधारा वर्षाकर अन्नकी तृष्णा दूर कराकर कवलाहार छुड़ावे तथा दूध आदि पेय पदार्थों पर रखे, पश्चात् क्रम क्रमसे उसका भी त्याग करवाकर उष्ण जल लेने मात्रका नियम करावे। यदि ग्रीष्मकाल, मारवाड़ जैसा

उष्णप्रदेश तथा पित्त प्रकृतिके कारण तृषाकी पीड़ा सहन करनेमें असमर्थ हो तो मात्र शीतल जल लेनेका नियम रखे, और शिक्षा दे कि हे आराधक ! हे आर्य ! परमागममें प्रशसनीय मारणान्तिक सल्लेखना अत्यन्त दुर्लभ बताई है, इसलिये तुझे विचारपूर्वक अतिचार आदि दोषोंसे उसकी रक्षा करनी चाहिए।

पश्चात् अशक्तिकी वृद्धि देखकर, मरणकाल सन्निकट है ऐसा निर्णय होने पर आचार्य समस्त संघकी अनुमतिसे सन्यासमें निश्चलताके लिये पानीका भी त्याग करावे। इस प्रकार अनुक्रमसे चारों प्रकारके आहारका त्याग होने पर समस्त सघकी क्षमा करावे और निर्विघ्न समाधिकी सिद्धिके लिये कायोत्सर्ग करे। उसके बाद वचनामृतका सिंचन करे अर्थात् संसारसे वैराग्य उत्पन्न करनेवाले कारणोंका उक्त आराधकके कानमें, मन्द मन्द वाणीसे जप करे। श्रेणिक, वारिषेण, सुभगादिके दृष्टान्त सुनावे और व्यवहार-आराधनामे स्थिर होकर, निश्चयआराधनाकी तत्परताके लिये इस तरह उपदेश करे कि—

हे आराधक ! श्रुतस्कन्धका 'एगो मे सासदा आदा' इत्यादि वाक्य 'णमो अरहन्ताणं' इत्यादि पद और 'अर्हं' इत्यादि अक्षर—इनमेसे जो तुझे रुचिकर लगे, उसका आश्रय करके अपने चित्तको उसमे तन्मय कर। हे आर्य ! 'मै एक शाश्वत आत्मा हूँ' यह श्रुतज्ञानसे अपनी आत्माका निश्चय कर ! स्वसवेदनसे आत्माकी भावना कर ! समस्त चिन्ताओसे पृथक् होकर प्राण विसर्जन कर ! और यदि तेरा चित्त किसी क्षुधा परीषहसे अथवा किसी उपसर्गसे विक्षिप्त (व्यग्र) हो गया हो तो नरकादि वेदनाओका स्मरण करके ज्ञानामृतरूप सरोवरमें प्रवेश कर। क्योकि अज्ञानी जीव शरीरमें आत्मबुद्धि अर्थात् 'मैं दुःखी हूँ, मै सुखी हूँ' ऐसा संकल्प करके दुखी हुआ करता है परन्तु भेदविज्ञानी जीव आत्मा और देहको भिन्न भिन्न मानकर देहके कारण सुखी दुःखी नही होता, किन्तु विचार करता है कि मेरा मरण ही नही है तो फिर भय किसका ? मुझे रोग ही नही है तो फिर वेदना कैसी ? मैं बालक, वृद्ध या तरुण नही हूँ तो फिर मनोवेदना कैसी ? हे महाभाग्य ! इस तुच्छसे शारीरिक दुखसे कायर होकर प्रतिज्ञासे किंचित् मात्र भी च्युत मत होना, दृढ़चित्त होकर परम निर्जराकी अभिलाष करना। जबतक तू आत्मचिन्तन करता हुआ सन्यास ग्रहण करके समाधि मरणकी आराधनामें बैठा है, तबतक प्रतिक्षण तेरे प्रचुर कर्मोका विनाश हो रहा है ! क्या तू वीरवीर पाण्डवोका चरित्र भूल गया है ! जिन्हे लोहेके आभूषण अग्निसे तपाकर शत्रुओंने पहनाये थे तो भी तपस्यासे किंचित् मात्र च्युत न होकर आत्मध्यानसे मोक्ष प्राप्त

किया ! क्या तूने महा सुकुमार सुकुमालकुमारका चरित्र नहीं सुना है ? जिनका शरीर स्यालनीने थोड़ा थोड़ा खा खा करके अतिशय कष्ट देनेके लिये कई दिन (तीन दिन) तक भक्षण किया था, परन्तु किंचित् मार्गच्युत न होकर जिन्होंने सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग प्राप्त किया था। ऐसे असंख्य उदाहरण शास्त्रोंमें हैं जहाँ दुस्सह उपसर्ग सहन करके अनेक साधुओंने स्वार्थसिद्धि की है। क्या तेरा यह कर्त्तव्य नहीं है कि उनका अनुकरण करके जीवन-धनादिकमें निर्वांछक होकर, अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग परिग्रहके त्यागपूर्वक साम्यभावसे निरुपाधिमें स्थिर होकर आनन्दामृतका पान करे ! इस तरह उपरोक्त उपदेशसे सम्यक् प्रकार कषायको कृश करके-कम करके रत्नत्रयकी भावनारूप परिणमनसे पंच नमस्कार-मंत्र स्मरणपूर्वक समाधिमरण करना चाहिये। यह समाधि-मरणकी संक्षिप्त विधि है।

सल्लेखना भी अहिंसा है

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम् ॥१७९॥

अन्वयार्थः—[यतः] कारण कि [अत्र] इस सन्यास मरणमें [हिंसाया] हिंसाके [हेतवः] हेतुभूत [कषायाः] कषाय [तनुताम्] क्षीणताको [नीयन्ते] प्राप्त होते है [ततः] इस कारण [सल्लेखनामपि] संन्यासको भी आचार्य [अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं] अहिंसाकी सिद्धिके लिये [प्राहुः] कहते है।

टीकाः—'यतः हिंसायाः हेतवः कषायाः अत्र (सल्लेखनायां) तनुताम् नीयन्ते ततः सल्लेखनाम् अहिंसा प्रसिद्ध्यर्थम् प्राहुः'।—अर्थः—हिंसाके मूलकारण कषाय हैं वह इस सल्लेखनामें क्षीण हो जाते है—घट जाते हैं अतः आचार्य सन्यासको भी अहिंसाकी पुष्टिके लिए कहते हैं।

भावार्थः—इस सन्यासमें कषाय क्षीण होते हैं और कषाय ही हिंसाके मूलकारण हैं इसलिये सन्यासका अंगीकार करनेसे भी अहिंसाव्रतकी ही सिद्धि होती है। इस प्रकार अन्त सल्लेखनाका कथन किया ॥१७९॥

आगे इन शीलोंके कथनको संकोचते हैं:—

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः ॥१८०॥

अन्वयार्थः—[यः] जो [इति] इस प्रकार [व्रतरक्षार्थं] पंचअणुव्रतोंकी रक्षाके लिये [सकलशीलानि] समस्त शीलोंको [सततं] निरन्तर [पालयति] पालन करता है [तम्] उस पुरुषको [शिवपद्श्रीः] मोक्षरूपी लक्ष्मी [उत्सुका] अतिशय उत्कंठित [पतिंवरा इव] स्वयवरकी कन्याकी तरह [स्वयमेव] स्वयं ही [वरयति] स्वीकार करती है अर्थात् प्राप्त होती है।

टीकाः—'इति यः व्रतरक्षार्थं सकलशीलानि सततं पालयति तम् उत्सुका शिवपद्श्रीः पतिंवरा इव स्वयमेव वरयति'—अर्थः—जो धर्मात्मा श्रावक इस प्रकार पाँच अणुव्रतोंकी रक्षाके निमित्त सप्त शीलव्रतोंका पालन करता है उसको मोक्षरूपी लक्ष्मी उत्सुक होकर स्वयंवरमें कन्याकी तरह स्वयं ही वरण करती है।

भावार्थः—जैसे स्वयंवरमें कन्या स्वयं ही अपने योग्य पुरुषको पहचान कर वरमाला डाल देती है वैसे ही मुक्तिलक्ष्मी व्रतधारी एवं समाधिमरण करनेवाले श्रावकको स्वय ही प्राप्त होती है। ऐसा व्रती श्रावक अवश्य ही मुक्तिपदको प्राप्त करता है ॥१८०॥

इस प्रकार पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, एक सल्लेखना, और एक सम्यक्त्व—इस तरह श्रावककी चौदह बातोंका वर्णन किया।

अब इनके पाँच पाँच अतिचारोंका वर्णन करते हैं:—

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेयाः ॥१८१॥

अन्वयार्थः—[सम्यक्त्वे] सम्यक्त्वमें [व्रतेषु] व्रतोंमें और [शीलेषु] शीलोमें [पञ्च पञ्चेति] पाँच पाँचके क्रमसे [अमी] यह [सप्ततिः] सत्तर [यथोदितशुद्धि-प्रतिबन्धिनः] यथार्थ शुद्धिके रोकनेवाले [अतिचाराः] अतिचार [हेयाः] छोड़ने योग्य है।

टीकाः—'सम्यक्त्वे व्रतेषु (सल्लेखना पञ्च) पञ्च पञ्च अतिचाराः इति अमी सप्ततिः यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनः हेयाः'।—अर्थः—सम्यग्दर्शनमें, पाँच अणुव्रतोंमें, तीन गुणव्रतोमें, चार शिक्षाव्रतोमे और सल्लेखनामे प्रत्येकमे पाँच पाँच अतिचार हैं। इस तरह यह सत्तर अतिचार है वे सभी व्रतोंकी शुद्धिमें दोष लगानेवाले हैं।

भावार्थः—व्रतका सर्वदेश भङ्ग होना तो अनाचार कहा जाता है और एकदेश भङ्ग होना अर्थात् दूषण लगना अतिचार कहा जाता है (यह अतिचार व्रतोंकी शुद्धताको दूर करनेवाले हैं क्योंकि व्रतोंमें दोष लग जाने पर उनकी शुद्धता अक्षुण्ण कैसे रह सकती है ?) इस तरह उपरोक्त श्रावककी चौदह बातोंके सत्तर अतिचार होते हैं ॥१८१॥

सम्यग्दर्शनके पाँच अतिचार

शङ्का तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम् ।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥१८२॥

अन्वयार्थः—[शङ्का] सन्देह [काङ्क्षा] वांछा [विचिकित्सा] ग्लानि [तथैव] उसी प्रकार [अन्यदृष्टीनाम्] मिथ्यादृष्टियोंकी [संस्तवः] स्तुति [च] और [मनसा] मनसे [तत्प्रशंसा] अन्य मतावलम्बियोंकी प्रशंसा करना [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टिके [अतिचाराः] अतिचार हैं ।

टीकाः—'शङ्का तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टीनाम् संस्तवः च मनसा प्रशंसा सम्यग्दृष्टेः अतिचाराः भवन्ति ।'—अर्थः—(१) जिनवचनमें शंका करना, (२) व्रत पाल कर इस लोक तथा पर लोक सम्बन्धी इष्ट वस्तुकी वांछा अर्थात् सांसारिक सुखोंकी इच्छा करना, (३) (अनिष्ट या दुर्गन्धमय वस्तुसे अप्रीति—ग्लानि करना अथवा) मुनिराज आदिके शरीरको देखकर घृणा करना, (४) अन्यमतावलम्बी मिथ्यादृष्टियोंकी वचनसे बड़ाई करना, कि यह भी कुछ अच्छा ही साधन करते हैं, (५) उनके कार्योंकी मनसे प्रशंसा—सराहना करना अर्थात् उनको भी अच्छा सा जानना । यह सम्यग्दर्शनके पांच अतिचार हैं, इनसे सम्यक्त्व मलिन होता है ।

भावार्थः—जबतक इन पांच अतिचारोंका त्याग नही होता तबतक वह निश्चय-सम्यग्दृष्टि नही हो सकता ॥१८२॥

अहिंसा अणुव्रतके पाँच अतिचार

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य ।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति ॥१८३॥

अन्वयार्थः—[अहिंसाव्रतस्य] अहिंसाव्रतके [छेदनताडनबन्धाः] छेदना, ताडन करना, बांधना, [समधिकस्य] बहुत अधिक [भारस्य] बोझका [आरोपणं] लादना

[च] और [पानान्नयोः] अन्न-जलका [रोधः] रोकना अर्थात् न देना [इति] इस प्रकार [पञ्च] पांच अतिचार है।

टीका:—'छेदन ताडन बन्धाः समधिकस्य भारस्य आरोपणं पानान्नयोश्च रोधः इति पञ्च अहिंसाव्रतस्य अतिचाराः'।—अर्थः—छेदन अर्थात् कान, नाक, हाथ इत्यादि काटना, ताडन अर्थात् लकड़ी, चाबुक, अरई इत्यादिसे मारना, बन्ध अर्थात् एक स्थान पर बांधकर रोक रखना, अधिक भार अर्थात् ऊँट, बैल, घोड़ा इत्यादिके ऊपर उनकी शक्तिसे अधिक बोझ लादना, तथा योग्य समय पर घास, चारा, पानी इत्यादि न देना—यह अहिंसा अणुव्रतके पांच अतिचार है ॥१८३॥

सत्य अणुव्रतके पाँच अतिचार

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।
न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च ॥१८४॥

अन्वयार्थः—[मिथ्योपदेशदानं] झूठा उपदेश देना, [रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती] एकान्तकी गुप्त बातोंका प्रगट करना, झूठा लेख लिखना, [न्यासापहारवचनं] धरोहरके हरण करनेका वचन कहना [च] और [साकारमन्त्रभेदः] कायकी चेष्टासे जानकर दूसरेका अभिप्राय प्रगट करना—यह पांच सत्याणुव्रतके अतिचार है।

टीका:—'मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानं कूटलेखकृती न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च इति सत्याणुव्रतस्य पञ्च अतिचाराः सन्ति'।—अर्थः—१-झूठा उपदेश देना जिससे जीवोंका अहित हो, २-किसी स्त्री-पुरुषकी गुप्त बातोंको प्रगट करना, ३-झूठा लेख लिखना या झूठी रसीद आदि स्वयं लिखना, ४-किसीकी धरोहर मार लेना, ५-किसीकी आकृति देखकर उसका अभिप्राय प्रगट कर देना—यह पांच सत्याणुव्रतके अतिचार है।

भावार्थः—१-ऐसा झूठा उपदेश देना कि जिससे लोग कल्याणकारी धर्मको छोड़कर अधर्ममें लग जावें। [२-स्त्री-पुरुषोंने जो कार्य एकान्तमें किये हो उनको प्रगट कर देना। जो किसीने कहा भी नहीं, किया भी नही, ऐसा झूठा ही ठगनेके लिए लिखना कि उसने ऐसा कहा है, ऐसा किया है इस प्रकार कपटपूर्वक लिखना।] ३-अपने पास कोई मनुष्य धरोहर रख गया हो और जब वह उसे वापस लेने आवे तब भूलसे जितनी रख गया था उससे कम माँगने लगे तो उससे कहना कि हाँ, इतनी ही

थी अथवा यह कहना कि भाई, जितनी हो उतनी ले जाओ। उसे न्यासापहार कहते हैं। ४–किसीकी आकृतिको देखकर उसका अभिप्राय जानकर उसे प्रगट कर देना कि इसका ऐसा अभिप्राय है। झूठ पहुँच लिख देना अथवा जबरदस्तीसे लिखा लेना कूटलेख है। यह पाँच सत्याणुव्रतके अतिचार है ॥१८४॥

अचौर्य अणुव्रतके पाँच अतिचार

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् ।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥१८५॥

अन्वयार्थः—[प्रतिरूपव्यवहारः] प्रतिरूप व्यवहार अर्थात् असली चीजमें नकली चीज मिलाकर बेचना [स्तेननियोगः] चोरी करनेवालोंकी सहायता करना, [तदाहृतादानम्] चोरीकी लाई हुई वस्तुओंको रखना, [च] और [राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे] राज्य द्वारा आदेशित नियमोंका उल्लघन करना, माप या तौलके गज, मीटर, कांटा, तराजू आदिके मापमें हीनाधिक करना,—[एते पञ्चास्तेयव्रतस्य] यह पांच अचौर्यव्रतके अतिचार हैं।

टीकाः—'प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगः तदाहृतादानम् राजविरोधातिक्रमः च हीनाधिकमानकरणे इति अचौर्याणुव्रतस्य पञ्च अतिचाराः सन्ति'।—अर्थ:—१–झूठी वस्तुको (अशुद्धवस्तुको) शुद्ध वस्तुकी तरह बनाकर असली वस्तुमें मिलाकर चलाना (नकली सिक्केको असली सिक्केमें मिलाकर चलाना) इसका नाम प्रतिरूप व्यवहार है। २–चोरीकी प्रेरणा करना, अनुमोदना करना अथवा चोरी करनेका उपाय बताना स्तेनप्रयोग अतिचार है। ३–चोरीकी वस्तुको खरीदना तीसरा अतिचार है। ४–राजाज्ञाका उल्लंघन करना अथवा राज–कर न देना–चौथा अतिचार है। ५–अधिक मूल्यवाली वस्तुमे कम मूल्यवाली वस्तु मिला देना, अधिक मूल्यकी वस्तु थोड़े मूल्यमे ले लेना, मापने–तौलनेके उपकरण मीटर, तराजू–कांटा–इत्यादि हीनाधिक रखना अथवा कम–बढ तौलकर देना–लेना यह पाँचवां अतिचार है। इस प्रकार यह पांच अचौर्यव्रतके अतिचार वर्णन किये ॥१८५॥

ब्रह्मचर्य अणुव्रतके पाँच अतिचार

स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम् ।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च ॥१८६॥

अन्वयार्थः—[स्मरतीव्राभिनिवेशः] कामसेवनकी अतिशय इच्छा रखना, [अनङ्गक्रीडा] योग्य अंगोंको छोड़कर दूसरे अंगोके साथ कामक्रीड़ा करना, [अन्यपरिणयनकरणम्] दूसरेका विवाह करना, [च] और [अपरिगृहीतेतरयोः] कुँवारी अथवा विवाहित [*इत्वरिकयोः] व्यभिचारिणी स्त्रियोंके पास [गमने] जाना, लेन-देन आदिका व्यवहार करना [एते ब्रह्मव्रतस्य] यह ब्रह्मचर्यव्रतके [पञ्च] पाँच अतिचार हैं।

टीकाः—'स्मरतीव्राभिनिवेशः अनङ्गक्रीडा अन्यपरिणयनकरणं इत्वरिकयोः अपरिगृहीता गमनं च इत्वरिका परिगृहीता गमनं च इति पञ्च अतिचाराः ब्रह्मचर्याणुव्रतस्य सन्ति'।—अर्थः—१-काम-भोग-विषय सेवन करनेकी अत्यन्त लालसा रखना, २-जो अग विषय सेवन करनेके हैं उन्हें छोड़कर मुख, नाभि, स्तन आदि अनंगोंमें रमण करना, ३-दूसरेके पुत्र-पुत्रियोंका विवाह करवाना या करना, ४-व्यभिचारिणी वेश्या अथवा कन्या इत्यादिके साथ लेन-देन आदि व्यवहार रखना, वार्तालाप करना, रूप-शृङ्गारादि देखना, ५-व्यभिचारिणी विवाहित स्त्रीके साथ भी इसी प्रमाण व्यवहार करना—यह पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार है ॥१८६॥

परिग्रहपरिमाण व्रतके पाँच अतिचार

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम् ।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रियाः पञ्च ॥१८७॥

अन्वयार्थः—[वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्] घर, भूमि, सोना, चाँदी, धन, धान्य, दास, दासी और [कुप्यस्य] वस्त्रादिके [भेदयोः] दोनो भेदोका [अपि] भी [परिमाणातिक्रियाः] परिमाण उल्लघन करना [एते अपरिग्रहव्रतस्य] यह अपरिग्रहव्रतके [पञ्च] पाँच अतिचार है।

टीकाः—'वास्तु क्षेत्र परिमाणातिक्रमः, अष्टापदहिरण्यपरिमाणातिक्रमः, धनधान्यपरिमाणातिक्रमः, दासदासीपरिमाणातिक्रमः, अपि कुप्यस्य भेदयोः परिमाणातिक्रमः इति पञ्च परिग्रहपरिमाणव्रतस्य अतिचाराः सन्ति'।—अर्थः—१-घर और क्षेत्रका परिमाण वढ़ा देना, २-सोना-चांदीका परिमाण बढ़ा देना, ३-गाय, भैंस, घोड़ा, गेहूँ, चना आदिका

---

* रत्नकरण्डश्रावकाचार गा० ६० में इत्वरिका गमनका अर्थः—इत्वरिका जो व्यभिचारिणी स्त्री उसके घर जाना अथवा उसे अपने घर बुलाना (धनादिका) लेन-देन रखना-परस्पर वार्ता करना-शृंगार देखना-यह इत्वरिकागमन नामके अतिचार हैं।

परिमाण बढ़ा देना, ४—दास—दासीका परिमाण बढ़ा देना, ५—कुप्य अर्थात् गरम और सूती दोनों प्रकारके वस्त्रोंका परिमाण बढ़ा देना; इस प्रकार यह पाँच परिग्रहपरिमाण-व्रतके अतिचार हैं ॥१८७॥

दिग्व्रतके पाँच अतिचार

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम् ।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पंचेति प्रथमशीलस्य ॥१८८॥

अन्वयार्थः—[ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः] ऊपर, नीचे और समान भूमिकी की हुई मर्यादाका उल्लंघन करना अर्थात् जितना प्रमाण किया हो उससे बाहर चला जाना [क्षेत्रवृद्धिः] परिमाण किये हुए क्षेत्रकी लोभादिवश वृद्धि करना और [स्मृत्यन्तरस्य] स्मृतिके अलावा क्षेत्रकी मर्यादा [आधानम्] धारण करना अर्थात् मर्यादाको भूल जाना [इति] इस प्रकार [पञ्च] पाँच अतिचार [प्रथमशीलस्य] प्रथम शील अर्थात् दिग्व्रतके [गदिताः] कहे गए हैं ।

टीकाः—'ऊर्ध्वं व्यतिक्रमः अधस्तात् व्यतिक्रमः तिर्यक् व्यतिक्रमः क्षेत्रवृद्धिः, स्मृत्यन्तरस्य आधानम् इति पञ्च अतिचाराः प्रथमशीलस्य दिग्व्रतस्य सन्ति' ।—अर्थः—मर्यादा की हुई ऊपरको दिशाओंका उल्लंघन करना, (जैसे पर्वत पर चढ़ना या हवाई जहाजसे आकाशमें ऊपर उड़ना,) २—मर्यादा की हुई नीचेकी दिशाओंका उल्लघन करना, (जैसे गहरे कुयेमें घुसना, समुद्रमें डुबकी लगाना अथवा कोयला आदिकी खानमें उतरना) ३—मर्यादा की हुई तिर्यक् दिशाओंका उल्लंघन करना, (जैसे गुफा इत्यादिमें प्रवेश करना) ४—मर्यादा किये हुए क्षेत्रको बढ़ाना अर्थात् जो दिशाओंका प्रमाण किया था उसे लोभके वशसे अधिक बढ़ा लेना, (यह अतिचार प्रमाद या मोहसे होता है,) ५—परिमाण की हुई मर्यादाको भूलकर सीमा बढ़ा लेना—यह दिग्व्रतके पाँच अतिचार हैं ॥१८८॥

देशव्रतके पाँच अतिचार

प्रेष्यस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पंचेति ॥१८९॥

अन्वयार्थः—[प्रेष्यस्य संप्रयोजनम्] प्रमाण किये हुए क्षेत्रके बाहर दूसरे मनुष्यको भेजना, [आनयनं] वहाँसे कोई वस्तु मँगाना [शब्दरूपविनिपातौ] शब्द सुनाना, रूप

दिखाकर इशारा करना और [पुद्गलानां] कंकड़ आदि पुद्गल [क्षेपोऽपि] भी फेंकना [इति] इस प्रकार [पञ्च] पांच अतिचार [द्वितीयशीलस्य] दूसरे शीलके अर्थात् देशव्रतके कहे गए है।

टीकाः—'प्रेष्यस्य संप्रयोजनम् आनयनं शब्दविनिपातौ रूपविनिपातौ पुद्गलानां क्षेपः इति पञ्च अतिचाराः द्वितीयशीलस्य सन्ति।'—अर्थः—१-स्वयं तो मर्यादित क्षेत्रके अन्दर ही रहना परन्तु नौकर-चाकरको मर्यादासे बाहर भेज देना, २-मर्यादासे बाहरकी कोई वस्तु मँगा लेना, ३-मर्यादाके बाहर शब्द करके-बोल करके अपना काम करवाना, ४-मर्यादाके बाहर अपना रूप दिखाकर स्वार्थ साधन करना, ५-मर्यादाके बाहर कोई वस्तु इत्यादि फेंककर अपना कार्य साध लेना—यह पांच देशव्रतके अतिचार हैं ॥१८९॥

अनर्थदण्डत्यागव्रतके पाँच अतिचार

कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम्।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पंचेति ॥१९०॥

अन्वयार्थः—[कन्दर्पः] कामके वचन बोलना, [कौत्कुच्यं] भाँडरूप अयोग्य कायचेष्टा करना, [भोगानर्थक्यम्] भोग-उपभोगके पदार्थोंका अनर्थक्य, [मौखर्यम्] वाचालता [च] और [असमीक्षिताधिकरणं] विचार किये बिना कार्य करना; [इति] इस प्रकार [तृतीयशीलस्य] तीसरे शील अर्थात् अनर्थदण्डविरति व्रतके [अपि] भी [पञ्च] पांच अतिचार हैं।

टीकाः—'कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यम् मौखर्यम् च असमीक्षिताधिकरणं इति तृतीय शीलस्य पञ्च अतिचाराः सन्ति।'—अर्थः—१-रागभावसे हास्य सहित भांड वचन बोलना, २-हास्य वचन सहित कायकी कुचेष्टा करना, ३-प्रयोजनसे बहुत अधिक भोगोपभोग सामग्रीको एकत्र करना, ४-धृष्टता युक्त बोलना तथा लड़ाई-झगड़ा करानेवाले वचन बोलना, ५-प्रयोजन बिना मन-वचन-कायका व्यापार बढ़ाते जाना (अथवा बिना विचार किये निष्प्रयोजन कार्य करना) यही पाँच अनर्थदण्डत्यागव्रतके अतिचार है ॥१९०॥

सामायिक शिक्षाव्रतके पाँच अतिचार

वचनमनःकायानां दुःप्रणिधानं त्वनादरश्चैव ।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पंचेति चतुर्थशीलस्य ॥१९१॥

अन्वयार्थः—[स्मृत्यनुपस्थानयुताः] स्मृतिअनुपस्थान सहित [वचनमनः कायानां] वचन, मन, और कायकी [दुःप्रणिधानं] खोटी प्रवृत्ति [तु] और [अनादरः] अनादर [इति] इस प्रकार [चतुर्थशीलस्य] चौथे शील अर्थात् सामायिकव्रतके [पञ्च] पाँच [एव] ही अतिचार हैं ।

टीकाः—'वचनप्रणिधानं, मनःप्रणिधानं, कायप्रणिधानं तु अनादरः च स्मृत्यनुपस्थानयुताः इति पञ्च चतुर्थशीलस्य अतिचाराः सन्ति' ।—अर्थः—१—वचनका दुरुपयोग करना अर्थात् सामायिक करते समय मन्त्रका उच्चारण अथवा सामायिक पाठका उच्चारण ठीक न करना, २—मनका दुरुपयोग अर्थात् मनमें बुरी भावना उत्पन्न होना, मनमें अनेक संकल्प—विकल्प उठना, ३—कायका दुरुपयोग अर्थात् सामायिक करते समय हाथ—पैर हिलाना, ४—अनादर अर्थात् सामायिक आदर पूर्वक न करना, अथवा बेगार समझकर उसे जैसे तैसे पूरी करनेको इच्छा करना, ५—स्मृत्यनुपस्थान अर्थात् एकाग्रता न होनेके कारण पाठ भूल जाना—यह सामायिक शिक्षाव्रतके पाँच अतिचार हैं । सामायिकमें मन, वचन, और काय तीनोंकी एकाग्रताकी अत्यन्त आवश्यकता है । इन तीनोके वश किये विना सामायिक हो ही नहीं सकती । अतः इन्हें अवश्य ही वश करना चाहिए ॥१९१॥

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके पाँच अतिचार

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः ।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥१९२॥

अन्वयार्थः—[अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं] देखे विना अथवा शुद्ध किये विना ग्रहण करना, [संस्तरः] चटाई आदि विस्तर लगाना [तथा] तथा [उत्सर्गः] मल—मूत्रका त्याग करना [स्मृत्यनुपस्थानम्] उपवासकी विधि भूल जाना [च] और [अनादरः] अनादर—यह [उपवासस्य] उपवासके [पञ्च] पाँच अतिचार हैं ।

टीकाः—'१-अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं २-अनवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरः ३-अनवेक्षिताप्रमार्जित उत्सर्गः ४-स्मृत्यनुपस्थानम् ५-अनादरश्च इति पञ्च अतीचाराः उपवासस्य सन्ति ।'—

अर्थः—१–बिना देखे अथवा कोमल उपकरणसे बिना पोंछे पूजनादिक सामग्री या कोई वस्तुका ग्रहण करना; २–बिना देखे, बिना पोंछे बैठने, सोने या बिस्तर लगाना; ३–बिना देखे, बिना साफ किये भूमि पर मल–मूत्रका त्याग करना; ४–उपवासमें एकाग्रता न होना अथवा विधि भूल जाना और ५–तप व उपवासकी विधिमें अनादर (उदासीनता) करना (अथवा शीघ्र पूर्ण होनेकी आकुलता रहना।) यह प्रोषधोपवास व्रतके पाँच अतिचार है ।।१९२।।

भोग–उपभोगपरिमाण शिक्षाव्रतके पाँच अतिचार

आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्र सचित्तसम्बन्धः ।
दुष्पक्वोऽभिषवोपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य ॥१९३॥

अन्वयार्थः—[हि] निश्चयसे [सचित्तः आहारः] सचित्त आहार, [सचित्त मिश्रः] सचित्त मिश्र आहार, [सचित्त सम्बन्धः] सचित्तके सम्बन्धवाला आहार, [दुष्पक्वः] दुष्पक्व आहार [च अपि] और [अभिषव आहार] *अभिषव आहार [अमी] यह [पञ्च] पाँच अतिचार [षष्ठशीलस्य] छट्ठे शील अर्थात् भोगोपभोग-परिमाणव्रतके है ।

टीकाः—'हि सचित्तः आहारः सचित्तमिश्रः आहारः सचित्तसम्बन्धः आहारः च दुःपक्वः आहारः अभिषवाहारः इति अमी पञ्च अतिचाराः षष्ठशीलस्य सन्ति ।'—अर्थः—१–निश्चय ही सचित्त–जीवसहित कच्ची हरी वस्तुका आहार करना, २–सचित्ताचित्तके मिश्रणवाली वस्तुका आहार करना, ३–हरी–सचित्तसे ढाँकी हुई वस्तुका आहार लेना, ४–ऐसी वस्तुका आहार करना जो अग्नि पर भले प्रकार पकाई न गई हो अर्थात् अधिक पक गई हो या कुछ कच्ची (अधपकी) रह गई हो तथा ५–गरिष्ठ अर्थात् कामोद्दीपक पुष्टकारक वस्तुका आहार करना,—यह पाँच भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचार हैं ।

भावार्थः—यद्यपि यह भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रतका पालक श्रावक अभी सचित्तका त्यागी नहीं है तो भी सचित्तत्याग प्रतिमाके पालनके अभ्यासके लिये तथा खाद्य पदार्थोंमें अधिक लालसा मिटानेके लिये ही उसे इन अतिचारोको टालना चाहिये ।।१९३।।

---

* दुग्धघृतादिक रस मिश्रित कामोत्पादक आहार ।

वैयावृत्त अतिथिसंविभागके पाँच अतिचार

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च ।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्य्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥

अन्वयार्थः—[परदातृव्यपदेशः] परदातृव्यपदेश, [सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च] सचित्तनिक्षेप और सचित्तपिधान, [कालस्यातिक्रमणं] कालका अतिक्रम [च] और [मात्सर्य्यं] मात्सर्य–[इति] इस प्रकार [अतिथिदाने] अतिथिसंविभागव्रतके पाँच अतिचार हैं ।

टीकाः—'अतिथिदाने परदातृव्यपदेशः अतिथिदाने सचित्तनिक्षेपः अतिथिदाने सचित्तपिधानं अतिथिदाने कालस्य अतिक्रमणं च अतिथिदाने मात्सर्य्य–इति पञ्च अतिचाराः वैयावृत्तस्य सन्ति, ।—अर्थः—१–घरका कार्य अधिक होनेके कारण अपने हाथसे आहार न देकर किसी दूसरेके हाथसे दिलवा देना, २–आहारकी वस्तुको कमलपत्रादिक हरे पत्तोंमें रखना, ३–आहारकी वस्तुको उपरोक्त हरे पत्तोंसे ढाँकना, ४–मुनि महाराजकी आहारचर्याके समय घर पर न मिलना अर्थात् भोजनके कालका उल्लंघन करना, ५–दान देते समय आदरभाव न होना, अथवा अपने घर मुनिराजके आहारकी विधि न मिल सकनेके कारण, या अपने घर मुनिराजके न आनेके कारण यदि दूसरे श्रावकके घर मुनिराजका आहारदान हो जाय तो उस श्रावकके प्रति द्वेष रखना–यह पाँच अतिचार अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रतके हैं ॥१९४॥

सल्लेखनाके पाँच अतिचार

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च ।
सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥१९५॥

अन्वयार्थः—[जीवितमरणाशंसे] जीवनकी आशंसा, मरणकी आशंसा, [सुहृदनुरागः] सुहृद अर्थात् मित्रके प्रति अनुराग, [सुखानुबन्धः] सुखका अनुबन्ध [च] और [सनिदानः] निदानसहित–[एते] यह [पञ्च] पाँच अतिचार [सल्लेखनाकाले] समाधिमरणके समय [भवन्ति] होते हैं ।

टीकाः—'जीविताशंसा मरणाशंसा सुहृदनुरागः सुखानुबन्धः च सनिदानः इति एते पञ्च सल्लेखनाकाले अतिचाराः सन्ति ।'—अर्थः—१–सल्लेखना धारण करनेके बाद जीनेकी वाञ्छा करना, किसी प्रकार मरण न हो ऐसी इच्छा करना, २–सल्लेखना

धारण करनेके बाद अधिक रोगवेदना हो रही हो तो ऐसी इच्छा करना कि मेरा शीघ्र मरण हो जाय तो अच्छा, ३–पूर्वके मित्रोंका स्मरण करना कि अमुक मित्र बहुत अच्छे थे और मैं उनके साथ क्रीड़ादिक कार्य करता था, ४–पूर्वमें जो सुख–साताकी सामग्री भोगी थी उसे याद करना, तथा वह भोग मुझे कब मिलेंगे ऐसा 'चिन्तवन' करना, ५–आगामी कालमें अच्छे अच्छे भोगोंकी प्राप्तिकी इच्छा करना–यह पाँच सल्लेखनाके अतिचार हैं।

भावार्थः—इस प्रकार १ सम्यग्दर्शन, ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत और १ सल्लेखना—इन चौदहके सत्तर अतिचारोंका वर्णन कर चुके। अतः नैष्ठिक श्रावकको इन सबका जहाँ तक जितना बन सके उतना यथाशक्ति अतिचार रहित पालन करना चाहिये, तभी मनुष्यभव मिलना सार्थक है। उपरोक्त चौदह *व्रत तीनों प्रकारके श्रावक पालते है। १–पाक्षिक श्रावक सम्यग्दर्शनका धारक होता है, वह सात व्यसनोंका त्यागी और आठ मूलगुणोंका पालक होता है। २–नैष्ठिक श्रावक ऊपरकी बातों सहित बारह व्रतोंका पालन करता है, यह नैष्ठिक अवस्था जीवन पर्यन्त रहती है। ३–साधक–श्रावक, जब मरणका समय निकट आवे तब वह नैष्ठिक श्रावक साधक अवस्थाको प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार जो मनुष्य इन तीनों अवस्थाओको प्राप्त करता है वह अवश्य स्वर्गको प्राप्त कर सकता है और परम्परासे मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यही मोक्ष–प्राप्तिका क्रम है ।।१९५।।

अतिचारके त्याग करनेका फल

इत्येतानतिचारानपरानपि संप्रतर्क्य परिवर्ज्य।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ।।१९६।।

अन्वयार्थः—[इति] इस प्रकार गृहस्थ [एतान्] इन पूर्वोक्त [अतिचारान्] अतिचार और [अपरान्] दूसरे दोषोत्पादक अतिक्रम, व्यतिक्रम आदिका [अपि] भी [संप्रतर्क्य] विचार करके [परिवर्ज्य] छोड़कर [अमलैः] निर्मल [सम्यक्त्वव्रत-

* निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक प्रथमकी दो कषायकी चौकड़ीके अभावरूप शुद्ध भावरूप (आंशिक वीतरागी स्वाश्रयरूप) निश्चयव्रतका पालन करनेवाले जीवके सच्चा अणुव्रत होता है। निश्चयसम्यग्दर्शन न हो तो उसके व्रत–तपको सर्वज्ञदेव बालव्रत (अज्ञानव्रत) और अज्ञान तप कहते हैं। ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए।

शीलैः] सम्यक्त्व, व्रत और शील द्वारा [अचिरात्] अल्प कालमें ही [पुरुषार्थसिद्धिम्] पुरुषके प्रयोजनकी सिद्धि [एति] पाते हैं।

टीका:—'इति एतान् अतिचारान् अपि अपरान् सम्प्रतर्क्य च परिवर्ज्य अमलैः सम्यक्त्व-व्रतशीलैः अचिरात् पुरुषासिद्धिम् एति।'—अर्थः—इस प्रकार इन अतिचारों तथा अन्य भी जो दोष है उसे जो पुरुष भले प्रकार विचार करके छोड़ता है और निर्दोष सम्यग्दर्शन, ५ अणुव्रत, ४ शिक्षाव्रत, ३ गुणव्रत इन सभी व्रतोंके पालन द्वारा जीव शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त कर सकता है।

भावार्थः—पुरुष नाम आत्माका है और अर्थ नाम मोक्षका है। इस प्रकार (स्वाश्रय निश्चयशुद्धि सहित) व्रतोंके पालनसे सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति होती है और सम्यक्-चारित्रकी प्राप्ति होनेसे शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। बिना *तपके सम्यक्-चारित्रकी प्राप्ति नही होती ॥१९६॥

---

* सम्यक्तपका अर्थ=शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अथवा निजपरमात्माके आश्रयसे निश्चय-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धिसे शुभाशुभ इच्छाओंके निरोधपूर्वक आत्मामें निर्मल-निराकुल ज्ञान आनन्दके अनुभवमे अखण्डित प्रतापवन्त रहना, निस्तरङ्ग चैतन्यरूपसे शोभित होना-तप है। ऐसा निश्चयतप भूमिकानुसार श्रावक तथा मुनि के होता है वहाँ बाह्यमें १२ प्रकारके तपमेंसे यथायोग्य निमित्त होता है, उसका ज्ञान करानेके लिये उसे व्यवहार तप कहा जाता है (विशेष रूपसे समझने के लिये देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७, निर्जरा तत्त्वकी श्रद्धाकी अयथार्थता)।

सकलचारित्र व्याख्यान

चारित्रान्तर्भावात् तपोपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम् ।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः ॥१९७॥

अन्वयार्थः—[आगमे] जैन आगममें [चारित्रान्तर्भावात्] चारित्रका अन्तर्वर्त्ती होनेसे [तपः] तपको [अपि] भी [मोक्षाङ्गम्] मोक्षका अंग [गदितम्] कहा गया है अतः [अनिगूहितनिजवीर्यैः] अपना पराक्रम न छुपानेवाले तथा [समाहितस्वान्तैः] सावधान चित्तवाले पुरुषोंको [तदपि] उस तपका भी [निषेव्यम्] सेवन करना योग्य है ।

टीकाः—'चारित्रान्तर्भावात् तपः अपि आगमे मोक्षाङ्गम् गदितम् अतः एव अनिगूहित-निजवीर्यैः समहितस्वान्तैः तदपि निषेव्यं' ।—अर्थः—सम्यक्चारित्रमें समाविष्ट हो जानेके कारण तपको भी जैनसिद्धान्तमें मोक्षका कारण कहा गया है अतः अपनी शक्ति छिपाये बिना मनको वशीभूत करके उस तपका भी आचरण करना चाहिये ।

भावार्थः—तप एक प्रकारका व्यवहार चारित्र है । (भूतार्थका आश्रय करने-वालेको) व्यवहारचारित्रसे निश्चयचारित्रकी जो कि सम्यक्चारित्र है, उसकी प्राप्ति होती है अर्थात् यह नियम है कि तपश्चरण बिना निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति होती ही नहीं इसलिये मोक्षके इच्छुक पुरुषोंको अवश्य (सर्वज्ञ वीतराग कथित सम्यक्) तप धारण करना चाहिये ॥१९७॥

(नोटः—चारित्र तो वीतरागता ही है और वह निज शुद्धात्माके आश्रयसे ही प्रगट होता है । परन्तु वहाँ उस समय व्यवहाराचरण कैसा होता है उसे बतानेके लिये उसे व्यवहारनयसे कारण कहा है । राग है वह तो बाधक ही है परन्तु उस उस भूमिकाके योग्य राग उस गुणस्थानका नाशक नहीं है इतना सम्बन्ध (मेल) बतानेके लिए उपचार–व्यवहार निरूपणकी यह रीति है । राग करते करते निश्चयचारित्र नही हो सकता इस प्रकार प्रथमसे ही निस्सन्देह प्रतीति करनी चाहिये)

बाह्य और अन्तरङ्गके भेदसे तप दो प्रकारका है। पहले बाह्य तपके भेद कहते हैं।

अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः।
कायक्लेशो वृत्तेः सङ्ख्या च निषेव्यमिति तपो बाह्यम् ॥१९८॥

अन्वयार्थः—[अनशनं] अनशन, [अवमौदर्यं] ऊनोदर, [विविक्तशय्यासनं] विविक्त शय्यासन, [रसत्यागः] रस परित्याग, [कायक्लेशः] कायक्लेश [च] और [वृत्तेः संख्या] वृत्तिकी संख्या-[इति] इस प्रकार [बाह्यं तपः] बाह्यतपका [निषेव्यम्] सेवन करना योग्य है।

टीकाः—'अनशनं अवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः कायक्लेशः च वृत्तेः संख्या बाह्यं तपः इति निषेव्यम्।'—अर्थः—१-अनशन तप—अर्थात् उपवास द्वारा चार प्रकारके आहारका त्याग करना। खाद्य (खानेकी वस्तुयें), स्वाद्य (ताम्बूल, सुपारी, इलायची आदि स्वाद लेनेकी वस्तुयें), लेह्य (चाटनेकी वस्तुयें), पेय (पीनेकी वस्तुयें)-इन सभीका त्याग करना अनशन है। २-अवमौदर्य तप—अर्थात् एकाशन करना, भूखसे कम खाना, वह दोनों प्रकारके तप द्वारा कर्मोंकी निर्जरा होती है, ध्यानकी प्राप्ति होती है निद्रा मिटती है, सन्तोष होता है, स्वाध्याय करनेमे मन लगता है तथा दोष घटता है। ३-विविक्त शय्यासन—जहाँ विषयी जीवोंका संचार-आवागमन न हो ऐसे एकान्त स्थानमें रहना (इससे बाधा रहित ब्रह्मचर्यका पालन होता है और ध्यानाध्ययन भी होता है) ४-रसत्याग—दूध, दही, घी, शक्कर, तेल इन पाँच रसका त्याग तथा नमक और हरी वस्तुओंका भी त्याग करना रसत्याग कहलाता है। यद्यपि रस तो पाँच ही हैं तो भी इन्द्रिय संयमकी अपेक्षासे सातोंका त्याग करना चाहिये। इनके त्यागका क्रम—नमक, हरीवस्तु, मिष्टवस्तु, घी, दूध, दही और तेल-इस प्रकार है, और यह रविवारके दिनसे प्रारम्भ करना चाहिये। (इसमें परिणामोंकी शुद्धिके अनुसार इन्द्रियोंका दमन होता है, निद्रा जीती जाती है, आलस्य मिटता है, स्वाध्याय सुखकी सिद्धि होती है) ५-कायक्लेश—शरीरको परिग्रह उत्पन्न करके पीड़ा सहन करना कायक्लेश है। इसके अभ्यास करनेसे अनेक कठोर उपसर्ग सहन करनेकी शक्ति बढ़ती है, शरीरके साथ ममत्वभाव घटता है और रागका अभाव होता है। ६-वृत्तिसंख्या—वृत्तिकी मर्यादा कर लेना। जैसे कि आज मुझे ऐसा भोजन मिले तभी आहार करूँगा अथवा इतने घर भोजनके लिये जाऊँगा, इत्यादि प्रकारसे नियम कर लेना—इस प्रकार यह षट् भेदरूप बाह्यतपका निरूपण किया ॥१९८॥

अथ अन्तरङ्ग तपोंका निरूपण करते हैं:—

अन्तरङ्ग तपके छह भेद

विनयो वैयावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः ।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति ।।१९९।।

अन्वयार्थः—[विनयः] विनय, [वैयावृत्त्यं] वैयावृत्त्य, [प्रायश्चितं] प्रायश्चित्त [तथैव च] और इसी प्रकार [उत्सर्गः] उत्सर्ग, [स्वाध्यायः] स्वाध्याय [अथ] और [ध्यानं] ध्यान-[इति] इस तरह [अन्तरङ्गम्] अन्तरङ्ग [तपः] तप [निषेव्यं] सेवन करने योग्य [भवति] है ।

टीकाः—'विनयः वैयावृत्त्यं प्रायश्चित्तं च उत्सर्गः तथैव स्वाध्यायः ध्यानं इति अन्तरङ्ग तपः निषेव्यम् ।'

अर्थः—१-विनय—विनय (अर्थात् पूज्यमें आदरभाव । पूज्यपना सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें पाया जाता है अतः इन्हें अत्यन्त आदरपूर्वक अंगीकार करना चाहिये यही वास्तविक विनय है) विनय नामक अन्तरङ्ग तप चार प्रकारका है । १-दर्शन विनय, २-ज्ञान विनय, ३-चारित्र विनय और ४-उपचार विनय ।

१-दर्शन विनयः—सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उपाय करना, सम्यग्दर्शनके माहात्म्यका प्रचार करना, सम्यग्दृष्टि जीवोंकी वृद्धि हो ऐसा प्रयत्न करना तथा अपना सम्यग्दर्शन सदा निर्दोष रखना-यह दर्शन विनय है । २-ज्ञान विनय —ज्ञानकी प्राप्ति करना, ज्ञानका प्रचार करना, स्वाध्यायशाला, विद्यालय खुलवाना, शास्त्र विनय सहित बांटना-देना, शास्त्र बाँचना-यह सभी ज्ञान विनय है । ३-चारित्र विनयः—चारित्र प्राप्त करना, चारित्रका उपदेश देना इत्यादि चारित्र विनय है । ४-उपचार विनयः—रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके धारक-धर्मात्माओंका तथा अन्य धर्मात्मा बन्धुओंका शारीरिक विनय करना । उनके आने पर उठकर खड़ा हो जाना, नमस्कार करना, हाथ जोड़ना, चरण स्पर्श करना आदि यह सब उपचार विनय है । तीर्थ-क्षेत्रकी वन्दना करना भी उपचार विनय है । पूजा-भक्ति करना भी उपचार विनय है । रत्नत्रयकी प्राप्ति करना वही सच्चा विनय है । इस प्रकार विनय तपका वर्णन किया । (इससे मानकषाय मिटती है तथा ज्ञानादि गुणकी प्राप्ति होती है ।)

२–वैयावृत्यः—अपने गुरु आदि पूज्य पुरुष आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, अर्जिका, श्रावक, श्राविका, त्यागी इत्यादि धर्मात्मा सज्जनोंकी सेवा–सुश्रूषा करना, कभी किसी व्रतधारीको कोई रोग हो जाय तो शुद्ध प्रासुक औषधि द्वारा उनका रोग दूर करना, जंगलोमें वसतिका, कुटी आदि बनवाना–यह सब वैयावृत्य ही है।

३–प्रायश्चित्तः—प्रमादसे जो कुछ दोष लगा हो उसको अपने गुरुके सामने प्रगट करना, उसकी आज्ञा–प्रमाण उस दोषको स्वीकार करके, भविष्यमे पुन: उसे न करनेकी प्रतिज्ञा करना तथा उनके द्वारा आदेशित दण्डको स्वीकार करके तदनुरूप आचरण करना प्रायश्चित्त अन्तरङ्ग तप है। इससे व्रत–चारित्रकी शुद्धि होती है। (परिणामोकी शल्य मिटती है तथा मानादि कषाय घटते है।) प्रायश्चित्त तपके ९ भेद है। १–आलोचन, २–प्रतिक्रमण, ३–आलोचन प्रतिक्रमण, ४–विवेक, ५–व्युत्सर्ग, ६–तप, ७–छेद, ८–परिहार, ९–उपस्थापना–यह ९ भेद हैं।

४–उत्सर्गः—शरीरमें ममत्वका त्याग करना, अन्तरङ्ग परिग्रह क्रोधादि कषायोंका त्याग करना, संसारकी वस्तुको अपनी नही मानना, इत्यादि अहङ्कारममकारका त्याग करना। किसीको अपना मानना कि "यह है वही मैं हूँ" अथवा किसीको ऐसा मानना कि "यह मेरा है, मैं इसका हूँ" इस प्रकारकी अहङ्कार और ममकार बुद्धिका (स्वसन्मुखतारूप भेदज्ञानके द्वारा) त्याग करना उत्सर्ग नामक अन्तरंग तप है।

५–स्वाध्याय—(अर्थात् ज्ञानभावनामें आलस्य न करना।) प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग, इन चारो प्रकारके शास्त्रोंका स्वाध्याय करना (जहाँ सशय हो अथवा श्रद्धान गाढ़ा करना हो वहाँ दूसरे विशेष ज्ञानियोसे पूछना। जिसका श्रद्धान दृढ़ हो उसको बार–बार मनमें अभ्यास रखना अथवा चिन्तवन करना, पाठको शुद्धतापूर्वक बार–बार पढ़ना, तथा धर्मार्थी–धर्मके लोभी भव्य जीवोको धर्मोपदेश देना) सीखना, सिखाना, विचारना, मनन करना इत्यादि स्वाध्याय नामक तप है। इसके द्वारा सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है, अन्य जीवोंको सम्यग्ज्ञानका बोध होता है, परिणाम स्थिर रहता है, ससारसे वैराग्य होता है, धर्मकी वृद्धि होती है इत्यादि अनेक गुण प्रगट होते हैं अत: स्वाध्याय करना चाहिए।

६–ध्यान—एकाग्र चित्त होकर समस्त आरम्भ–परिग्रहसे मुक्त होकर, पंचपरमेष्ठी और आत्माका ध्यान करना उसीको ध्यान कहते हैं। वहाँ प्रशस्त रागपूर्वक

अरिहन्तादिके चिन्तवनमें प्रवर्त्तन करना शुभध्यान है और केवल शुद्धात्मामें एकाग्र होना शुद्धध्यान है।) आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यानके भेदसे ध्यान चार प्रकारका है। उनमें आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान तो संसारके कारण हैं तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्षके कारण है।

ध्यानके सामान्यतया तीन भेद हो सकते है—अशुभध्यान, शुभध्यान, और शुद्धध्यान। इनमें आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों अशुभध्यान हैं, धर्मध्यान शुद्धता युक्त शुभध्यान है तथा शुक्लध्यान शुद्धध्यान है। इसलिये मोक्षार्थी जीवोंको धर्मध्यान और शुक्लध्यान अवश्य अपनाना चाहिये। ध्यानके अवलम्बनरूपसे पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—यह चार भेद हैं। इनका विशेष वर्णन ज्ञानार्णव ग्रन्थसे ज्ञात करना चाहिये। यहाँ लिखनेसे बहुत विस्तार हो जायेगा।

भावार्थः—ध्यान तपसे चारित्रभाव सम्पूर्णताको प्राप्त होता है, मन वशीभूत होता है, अनाकुलता होनेसे परमानन्द होता है। इस प्रकार छह भेद युक्त अन्तरंग तप सेवन करने योग्य है। यह तप मनके आधीन है इसीलिये इसे अन्तरंग तप कहते है अतः इसका निरन्तर सेवन करना योग्य है यहाँ यह बात भी जान लेना अत्यावश्यक है कि बाह्यतप और अन्तरंग तपमें क्या अन्तर है। बाह्यतपमें केवल बाह्यपदार्थ तथा शरीरकी क्रिया ही प्रधान कारण होती है और अन्तरंग तपमें आत्मीय भाव तथा मनका अवलम्बन ही प्रधान कारण पड़ता है। जैसे अग्नि सोनेको शुद्ध बनाती है वैसे ही यह दोनों प्रकारके तप आत्माको शुद्ध बनाते है। कारण कि तपके बिना चारित्र नहीं होता और चारित्रके बिना कर्मोंकी निर्जरा नही होती। अतः दोनों प्रकारके तपोंका आचरण अवश्य करना चाहिये। यहाँ तक गृहस्थके व्रतोंका वर्णन हुआ। तत्पश्चात् श्री अमृत-चन्द्रस्वामी मुनियोंके चारित्रका वर्णन करते है। मुनिपद धारण किए बिना मोक्षकी प्राप्ति कभी होती नहीं इसलिये मोक्षार्थी भव्यात्माओंको जहाँ तक बन सके वहाँ तक समस्त आरम्भ–परिग्रहका त्याग करके मुनिपद धारण कर, अष्टकर्मोंको क्षय करके मुक्ति लक्ष्मीकी प्राप्ति करनी चाहिए ॥१९९॥

मुनिव्रत धारण करनेका उपदेश

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम् ।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥

अन्वयार्थः—[जिनपुङ्गवप्रवचने] जिनेश्वरके सिद्धान्तमें [मुनीश्वराणाम्] मुनीश्वर अर्थात् सकलव्रतधारियोंका [यत्] जो [आचरणम्] आचरण [उक्तम्] कहा है, [एतत्] यह [अपि] भी गृहस्थोंको [निजां] अपने [पदवीं] पद [च] और [शक्तिं] शक्तिको [सुनिरूप्य] भले प्रकार विचार करके [निषेव्यम्] सेवन करना योग्य है।

टीका:—'निजपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यत् आचरणं उक्तं एतत् अपि निजां पदवीं सुनिरूप्य शक्तिं च सुनिरूप्य निषेव्यम्'।—अर्थ:—अर्हन्त भगवान् तथा गणधरादि कथित जिन शास्त्रोंमें जो मुनि–महात्माओंका सर्वदेश त्यागरूप आचरण कहा है वह आचरण गृहस्थको अपने पदकी योग्यता और अपनी शक्तिको देखकर अवश्य करना चाहिये।

(भावार्थः—जैसे मुनिराज मोक्षमार्गको सर्वदेश प्राप्त हुए हैं वैसे ही श्रावक भी मोक्षमार्गमें एकदेश प्रवर्त्तन करता है इसलिये शास्त्रमें जैसा जैसा आचरण–क्रियाकाण्ड मुनियोंका कहा है वैसा ही श्रावकको भी अंगीकार करना चाहिये, परन्तु अपनी पदवी और शक्ति विचार कर जैसी प्रतिमाका धारक हो तदनुसार ही यथायोग्य आचरण करना योग्य है।) जहाँ तक बन सके वहाँ तक प्रत्येक आत्मकल्याणार्थीको मुनि पदको स्वीकार करके अपनी आत्माका कल्याण करना चाहिये। यदि वह किसी भी तरह सर्वदेशव्रतका पूर्णरूपेण पालन न कर सके तो पहले अणुव्रत पालना चाहिये पश्चात् महाव्रत धारण करना चाहिये ॥२००॥

[अब जो मुनीश्वरोका आचरण श्रावकको भी यथायोग्य अगीकार करनेके लिये कहा गया है उसका वर्णन करते है।]

प्रथम ही छह आवश्यकका वर्णन करते हैं:—

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम् ॥२०१॥

अन्वयार्थः—[समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्] समता, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान [च] और [वपुषो व्युत्सर्गः] कायोत्सर्ग–[इति] इस प्रकार [इदम्] यह [आवश्यक षट्कं] छह आवश्यक [कर्त्तव्यम्] करना चाहिये।

टीकाः—'समता स्तव वन्दना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गः इति इदं आवश्यक षट्कं'।—

१-समता—समस्त जीवोंपर समताभाव रखना (अर्थात् लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जीवन-मरणमें हर्ष विषाद न करके समभाव रखना) अथवा सामायिक करना।

(सर्व जीव है ज्ञानमय ऐसा जो समभाव-वह सामायिक जिन कहैं प्रगट करत भवपार।—योगसार दोहा नं० ९९)

२-स्तव—श्री भगवान अर्हन्तदेव-तीर्थंकर भगवानके गुणोंका कीर्तन करना अर्थात् स्तुति करना। यह स्तव व्यवहारस्तव और निश्चयस्तवके भेदसे दो प्रकारका होता है।

३-वन्दना—पंच परमेष्ठीको प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूपसे साष्टांग नमस्कार करना।

४-प्रतिक्रमण—अपने किये हुए दोषोंका पश्चात्ताप करना। अर्थात् अपनेसे कोई दोष या भूल हो जाय तो उसे अपने गुरुके समक्ष प्रगट करके उस भूलको स्वीकार कर लेना-यही प्रतिक्रमण है।

५-प्रत्याख्यान—(आगामी आस्रवका निरोध)-जो रत्नत्रयमें विघ्न उत्पन्न करनेवाले हैं उन्हें मन, वचन और कायसे रोकना और उनका त्याग करना प्रत्याख्यान कहलाता है। यह प्रत्याख्यान १-अखण्डित, २-साकार, ३-निराकार, ४-परिमान, ५-इतरत्, ६-वर्तनीपात, ७-सहेतुक इत्यादि भेदसे १० प्रकारका है।

६-व्युत्सर्ग—शरीरका ममत्व छोड़कर विशेष प्रकारके आसन पूर्वक ध्यान करना, यह व्युत्सर्ग नामका आवश्यक है।

भावार्थः—इस प्रकार यह छह आवश्यकोंका वर्णन किया। मुनि तथा श्रावक दोनोंको इनका पालन प्रतिदिन अवश्य ही करना चाहिये इसीलिये इन्हें आवश्यक कहा गया है, अतः मुनियोंको उसका पालन सर्वदेश करना चाहिये और श्रावकोंको अपनी योग्यतानुसार एकदेश करना चाहिये ॥२०१॥

तीन गुप्तियोंका वर्णन

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम् ॥२०२॥

अन्वयार्थः—[वपुषः] शरीरको [सम्यग्दण्डः] भले प्रकार-शास्त्रोक्त विधिसे वश करना, [तथा] तथा [वचनस्य] वचनका [सम्यग्दण्डः] भले प्रकार अवरोधन

करना [च] और [मनसः] मनका [सम्यग्दण्डः] सम्यक्रूपसे निरोध करना—इस प्रकार [गुप्तीनां त्रितयम्] तीन गुप्तियोंको [अवगम्यम्] जानना चाहिये ।

टीकाः—'वपुषः सम्यग्दण्डः तथा वचनस्य सम्यग्दण्डः च मनसः सम्यग्दण्डः इति गुप्तीनां त्रितयं समनुगम्यम्' ।—अर्थः—शरीरको वश करना, वचनको वश करना, और मनको वश करना—यह तीन गुप्ति जानना चाहिये ।

भावार्थः—गुप्तिका अर्थ गोपना अथवा छिपाना है । जैसे कि मनकी क्रिया रोकना अर्थात् मनकी चञ्चलता रोककर एकाग्रता कर लेना मनगुप्ति है । वचनका न बोलना अर्थात् मौन धारण करना वचनगुप्ति है । शरीरकी क्रिया रोकना–निश्चल हो जाना कायगुप्ति है । इन तीनों गुप्तियोंमेंसे मनोगुप्तिका पालन करना अति कठिन है । जहाँ तीनों गुप्ति हो जाती हैं वहाँ आत्मध्यान होता है ।।२०२।।

पाँच समिति

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक् ।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः ।।२०३।।

अन्वयार्थः—[सम्यग्गमनागमनं] सावधानीसे देख भालकर गमन और आगमन [सम्यग्भाषा] उत्तम हितमितरूप वचन, [सम्यक् एषणा] योग्य आहारका ग्रहण, [सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ] पदार्थका यत्नपूर्वक ग्रहण और यत्नपूर्वक क्षेपण करना [तथा] और [सम्यग्व्युत्सर्गः] प्रासुक भूमि देखकर मल–मूत्रादिका त्याग करना–[इति] इस प्रकार यह पांच [समितिः] समिति हैं ।

टीकाः—'सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथा सम्यक् एषणा च सम्यग्ग्रहनिक्षेपः सम्यक् व्युत्सर्गः इति (पञ्च) समितिः' ।—

अर्थः—१–ईर्यासमिति—मुनिराज दिनके समयमें ही सूर्योदयके दो घड़ी बाद जब सूर्यकी किरणें स्पष्ट हो जावें और मार्ग प्रासुक हो जाय तब यत्नाचारपूर्वक चार हाथ प्रमाण भूमि स्थूल दृष्टिसे देखकर गमनागमन करें तथा पैरोंको देख देख कर रखें । (जब मार्गपर घोड़ा–गाड़ी–पथिक आदि चलने लगते हैं तब वह सहज ही प्रासुक हो जाता है ।)

२–भाषासमिति—हितमित और असन्देहरूप वचन बोलना कि जिससे सुननेवाले कोई भी प्राणीको दुःख न हो ।

३–एषणासमिति—छियालीस दोष, बत्तीस अन्तराय टालकर उत्तम कुलीन श्रावकके घर आचारसहित विधिपूर्वक शुद्ध प्रासुक आहार दिनमें एकबार लेना।

४–आदाननिक्षेपणसमिति—यत्नाचारपूर्वक देखकर सँभालकर पुस्तक, पीछी, कमण्डलादि उठाना तथा रखना।

५–प्रतिष्ठापनासमिति—यत्नपूर्वक दृष्टिसे देखकर और पींछीसे पोंछकर मल–मूत्र–कफ इत्यादि नवद्वारके मल प्रासुक (निर्जीव) भूमिपर त्याग करना। जलमें, गीली भूमिमें, हरी घासमें मल त्याग नहीं करना तथा लोगोंके आने–जानेके मार्गसे दूर जाकर निर्दोष भूमिमें मल क्षेपण करना। इस प्रकार समितियोंका वर्णन किया। यह पाँचों समितियाँ गुप्तियोंके पालनमें सहायक होती है। उपरोक्त प्रकारसे इनका पालन तो मुनिमहाराज ही करते है फिर भी जितना बन सके उतना श्रावकको भी इनका पालन करना चाहिये। श्रावकको भी देखभालकर चलना चाहिए, संक्षिप्त और हितकारी वचन बोलना चाहिये, शुद्ध प्रासुक आहार लेना चाहिये, सभी वस्तुयें देखभालकर उठाना–रखना चाहिये और जीवरहित स्थानमें ही मल–मूत्रादि विसर्जन करना चाहिये। इसी प्रकार यथाशक्ति इन सबका श्रावकोंको पालन करना चाहिये ॥२०३॥

दश धर्म

धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।
आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥२०४॥

अन्वयार्थः—[क्षान्तिः] क्षमा, [मृदुत्वं] मार्दव, [ऋजुता] सरलता अर्थात् आर्जव [शौचम्] शौच [अथ] पश्चात् [सत्यम्] सत्य, [च] तथा [आकिञ्चन्यं] आकिञ्चन, [ब्रह्म] ब्रह्मचर्य, [च] और [त्यागः] त्याग, [च] और [तपः] तप [च] और [संयमः] संयम–[इति] इस प्रकार [धर्मः] दश प्रकारका धर्म [सेव्यः] सेवन करना योग्य है

टीकाः—'क्षान्तिः मृदुत्वं ऋजुता च शौचम् अथ सत्यम् आकिञ्चन्यं ब्रह्म च त्यागः च तपः च संयमः इति धर्मः सेव्यः'।—

अर्थः—१–क्रोधका त्याग करके क्षमा धारण करना उत्तमक्षमा नामका पहला धर्म है। २–मान कषायका त्याग करके कोमलता धारण करना उत्तम मार्दव नामका दूसरा धर्म है। ३–मायाचारका (कपटका) त्याग करके सरलता धारण करना उत्तम

आर्जव नामका तीसरा धर्म है। ४—लोभका त्याग करके सन्तोष धारण करना शौच नामका चौथा धर्म है। शौचका अर्थ शुद्धि है। यह शुद्धि दो प्रकार की है—१, बाह्यशुद्धि, २, अन्तरङ्ग शुद्धि। स्नानादिसे शरीरको पवित्र रखना बाह्यशुद्धि है और लोभ कषायका त्याग करना अन्तरंगशुद्धि है। इन दोनों प्रकारकी शुद्धि करना ही शौचधर्म है। यहाँ एक विचार योग्य बात यह है कि यह दोनों प्रकारको शुद्धियाँ गृहस्थ—श्रावककी अपेक्षासे ही हैं, मुनिकी अपेक्षासे नहीं है; कारण कि मुनिमहाराजके तो अन्तरंग शुद्धिकी ही मुख्यता है। ५—दूसरेको दुख उत्पन्न करनेवाला, निन्दनीय कपटी वचन नही बोलना सत्य कहलाता है और यही पाँचवाँ उत्तमसत्य धर्म है। ६—पंचेन्द्रियके विषयोंको तथा मनके विषयको रोकना और छह कायके जीवोंकी हिंसा न करना उसीको संयम कहते हैं। व्रतोंका ध्यान करनेसे, समितियोंका पालन करनेसे, कषायोंका निग्रह करनेसे और मन—वचन—कायको वशमे रखनेसे इस संयमका पालन होता है यही छठवाँ उत्तम संयमधर्म है। ७—जिस तरह सोनेका मैल दूर करनेके लिये अग्निका ताव दिया जाता है उसी तरह आत्माके साथ लगे हुए कर्मोको दूर करनेके लिये (सर्वज्ञ—वीतराग कथित) तप किया जाता है। यह तप बारह प्रकारका है। 'इच्छा निरोधस्तपः'— इच्छाका निरोध करना ही तप है—यह सातवाँ उत्तम तपधर्म है। (इन बारह भावनाओमें स्वाश्रयके बलद्वारा जितनी परिणामोंकी शुद्धि है वह तो निर्जराके कारणरूप निश्चय तप है और उसी समय हेयबुद्धि सहित व्रत तपादिके शुभ विकल्प—राग है उतना व्यवहार—उपचार तप है ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये।) लोकमें तो आहार, औषध, अभय और ज्ञानदान देनेको त्यागधर्म कहते है, परन्तु यह त्याग वास्तविक—सच्चा त्याग नही है। (त्रैकालिक अकषाय ज्ञायकस्वभावके आश्रय द्वारा वीतराग विज्ञानरूप शान्तिकी उत्पत्ति होना उतना अंशमें कषायकी उत्पत्ति न होना वही) क्रोधादि कषायोका त्याग करना है वही सच्चा त्याग है। इसलिये यद्यपि मुनिराज प्रत्यक्षरूपसे कोई दान नहीं करते तो भी वास्तवमें कषायोंका त्याग करनेके कारण वे ही सच्चे दानी है और जिस समय जिस जीवके लोभकषायका त्याग हो गया उसके बाह्य पदार्थोका तो त्याग हो ही गया, क्योंकि लोभकषाय छोड़े बिना बाह्य वस्तुओंका त्याग नहीं होता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि (तत्त्वज्ञानके बिना) लोभादि कषायोका त्याग करना ही सच्चा उत्तम त्याग है और वही दान है।

ममत्वबुद्धिका त्याग करना आकिञ्चन्य धर्म है। चौदह प्रकारके अन्तरंग परिग्रह तथा दश प्रकारके बाह्य परिग्रह—इन दोनो प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर देना ही उत्तम

आकिञ्चन्य धर्म है। १०—संसारके सर्व पदार्थोंसे मनकी वृत्ति हटाकर केवल एक आत्मामें ही लीन करना अर्थात् ब्रह्ममें तल्लीनता होना उत्तम ब्रह्मचर्य है।

यह दशा तभी हो सकती है कि जब आत्मा पंचेन्द्रियके विषयोंको रोकनेमें समर्थ हो, विशेषत: स्पर्शेन्द्रियके विषय अर्थात् कायवासनाको जीतनेमें समर्थ हो जाय और उस कायवासनाका त्याग तभी हो सकता है जब स्त्री मात्रका त्यागी हो जाय अर्थात् संसारकी स्त्री मात्रका मन–वचन–कायसे त्याग करे। परन्तु ऐसा त्याग तो केवल एक मुनिमहाराज ही कर सकते है; श्रावक तो एकदेश त्याग कर सकता है अर्थात् स्व–स्त्रीमें सन्तोष रखकर अपनी स्त्रीके अलावा संसारकी शेष समस्त स्त्रियोंको माता, भगिनी अथवा पुत्री समान जानता है—यही एकदेश ब्रह्मचर्यका पालन है।

भावार्थ:—इस प्रकार यह दशलक्षणधर्मका वर्णन किया। इन धर्मोंका पालन करना प्रत्येक प्राणीका मुख्य कर्त्तव्य है, कारण कि यही दशधर्म मोक्षमार्गका साधन करनेके लिये मुख्य कारण है ॥२०४॥

बारह भावनाओंका निरूपण

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्म:।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जरा: सततमनुप्रेक्ष्या: ॥२०५॥

अन्वयार्थ:—[अध्रुवम्] अध्रुव, [अशरणम्] अशरण, [एकत्वम्] एकत्व, [अन्यता] अन्यत्व, [अशौचम्] अशुचि, [आस्रव:] आस्रव, [जन्म:] ससार, [लोकवृषबोधिसंवरनिर्जरा:] लोक, धर्म, बोधिदुर्लभ, संवर और निर्जरा [एताद्वादश-भावना] इन बारह भावनाओंका [सततम्] निरन्तर [अनुप्रेक्ष्या:] बारबार चिन्तवन और मनन करना चाहिये।

टीका:—'अध्रुवं अशरणं जन्म एकत्वं अन्यता अशौचं आस्रव: संवर: निर्जरा लोक बोधि वृष: इति द्वादश अनुप्रेक्षा: सततं भावनीया:।'—अर्थ:—१–अनित्य भावना—संसारकी समस्त वस्तुये शरीर, भोगादि सभी अनित्य–नाशवान हैं, आत्मा नित्य है, ध्रुव है इसलिये अध्रुव वस्तुसे प्रीति छोड़कर ध्रुव स्ववस्तुमें चित्त लगाना इसीको अनित्य भावना कहते है।

२–अशरण भावना—इस जगतमें कोई किसीका शरण नही है, सभी प्राणी कालके आधीन है, कालसे बचानेवाला कोई नही है। व्यवहारनयसे चार शरण हैं—अर्हन्तका

शरण, सिद्धका शरण, साधुका शरण और जैनधर्मका शरण, परन्तु वास्तवमें निश्चयनयसे केवल अपना आत्मा ही शरण है, अन्य कोई नही। ऐसा (स्वसन्मुखता सहित) विचार निरन्तर करना–यह दूसरी अशरण भावना है।

३–संसार भावना—संसार बहुत दुःख रूप है, चारों गतियोंमें कही भी सुख नही है। नरक गतिमें तो प्रगटरूप छेदन, भेदन, ताड़न, तापन, शूलारोपण आदि अनेक दुःख हैं। और तिर्यंच गतिमें भूख, प्यास, अतिभार लादना इत्यादि दुःख हैं, मनुष्य गतिमें भी अनेक चिन्तायें, बहुत खेद इत्यादि अनेक दुःख हैं, देवगतिमें भी विषय–वासना है, बड़े देवोंकी बड़ी ऋद्धि देखकर छोटे देव व्याकुल होते हैं, देवोंकी आयु दीर्घ तथा देवांगनाओंकी आयु अल्प होनेसे उनके वियोगमें देवोंको अवश्य दुःख होता है, मृत्युके पूर्व छह महीने पहलेसे गलेकी माला मुरझाने लगती है तबसे उस देवको महा मोहवश अत्यन्त खेद और दुःख होता है, इत्यादि प्रकारसे देवगतिमें भी बहुत दुःख हैं। सुख तो एक मात्र पंचमगति अर्थात् मोक्षमें है (वहाँ निज आत्मासे ही उत्पन्न और अक्षय ऐसा अनन्तानन्त काल तक पूर्ण आनन्दमय अतीन्द्रिय सुख है) अतः प्राणीमात्रको चतुर्गतिरूप संसारसे उदासीन होकर पंचमगतिके प्राप्त करनेका उपाय करना चाहिये। ऐसा सदैव चिन्तवन करते रहना वही तीसरी संसार भावना है।

४–एकत्व भावना—यह आत्मा सदा अकेला ही है, जन्ममें तथा मरणमें सदा अकेला है इसका कोई सङ्गी–साथी नही है। यह सुख भोगनेमें अकेला, दुख भोगनेमें अकेला, संसार भ्रमण करनेमें अकेला, मोक्ष प्राप्त करनेमें अकेला, इस प्रकार यह आत्मा त्रिकाल अकेला ही है, इसका कोई साथी नही है—इस प्रकार निरन्तर विचार करना एकत्व भावना है।

५–अन्यत्व भावना—संसारके जितने भी पदार्थ हैं वे सब जुदे जुदे हैं, कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थमें मिला हुआ नहीं है—(मिला हुआ नही था–और कभी मिलेगा नहीं) मन–वचन–काय यह सभी आत्मासे भिन्न हैं। जब यह शरीर, मन और वचन भी आत्मासे भिन्न हैं तो यह प्रगटरूपसे भिन्न घर, मकान वगैरह एक कैसे हो सकते हैं ? (अतः शरीरादिसे निर्मोही बनकर, पर–भावोंसे अपना भिन्नत्व जानकर आपमें ही लीन होना योग्य है) इस प्रकार वस्तु स्वरूप जानकर बारबार चिन्तवन करना अन्यत्व भावना है।

६–अशुचि भावना—यह शरीर सदैव नवद्वारसे बहते हुए मल–मूत्रका खजाना महा अशुचिरूप है और आत्मा ज्ञानमय महा पवित्र है, तो आत्माका शरीरादिसे

सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है ? इस तरह बारबार चिन्तवन करना अशुचि भावना है ।

७–आस्रव भावना—५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, २५ कषाय, १५ योग ये आस्रवके ५७ भेद हैं, उनके द्वारा यह जीव हमेशा कर्मोंका आस्रव किया करता है । शुद्ध भावरूप संवरके द्वारा जब तक उन आस्रवोंका त्याग न हो तब तक यह जीव ससारमेंसे छूट सकता नही अर्थात् जीवको यह आस्रव ही दुःखदायक है ऐसा (स्वसन्मुखता सहित) बारम्बार चिन्तवन करना उसे आस्रव भावना कहते है ।

८–संवर भावना—(स्वसन्मुखतारूप शुद्धिके द्वारा ही) कर्मोंके आगमनको रोकना ही संवर है । यह संवर ही ससारसे छुड़ानेवाला और मोक्ष ले जानेवाला है । पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह, पांच प्रकारका चारित्र–यह सभी संवरके कारण हैं । सभी प्राणियोंको इन सर्व कारणोंको धारण करके संवरकी प्राप्ति करना चाहिये । ऐसा बार बार चिन्तवन करना ही संवर भावना है ।

९–निर्जरा भावना—(सर्वज्ञ वीतराग कथित) तपके द्वारा पूर्वबद्ध कर्मोंका एकदेश क्षय करना निर्जरा है । यह निर्जरा दो प्रकारकी है । सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा । सविपाक निर्जरा तो सर्व संसारी जीवोंके सदैव हुआ ही करती है, परन्तु अविपाक निर्जरा तो शुद्धभावरूपी तप आदि करनेसे ही होती है, और अविपाक निर्जराके बिना यह जीव संसारसे मुक्त हो सकता नही । अतः मोक्षार्थी जीवोंको यह अविपाक निर्जरा अवश्य करना चाहिये । इस प्रकार बार बार चिन्तवन करना ही निर्जरा भावना कहलाती है ।

१०–लोक भावना—(इस लोकके तीन भाग है । ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक । यह तीनों लोक तीनसौ तेतालीस राजू घनाकार, चौदह राजू ऊँचा किसीके द्वारा बनाए नहीं गए हैं और कभी इनका नाश नहीं होगा, अतः अनादि निधन, स्वयंसिद्ध, अविनाशी है । अनन्तानन्त लोकाकाशमें उसका अनन्तवाँ भाग लोकाकाश है वह षट् द्रव्यात्मक है । अधोलोकमें तो सातवें नरकके नीचे एक राजू पर्यन्त स्थावर ही हैं, वहाँ त्रसराशि नही है तथा शेष छह राजूमें सात नरक हैं उनमें रहनेवाले नारकी महादुःखी हैं । इन नरकोंके ऊपर भवनवासी तथा व्यन्तर देव हैं, यह अधोलोककी संक्षिप्त रचना बताई । अधोलोकमें सूक्ष्मस्थावर तो सर्वत्र हैं तथा बादरस्थावर किसीके

आधारसे हैं। त्रस जीवोंमें निचले स्थानमें नारकी और ऊपरके स्थानमें भवनवासी तथा व्यन्तर हैं, अन्य किसी जातिके त्रस जीव नहीं। मध्यलोकमें असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, उनमें ढाई द्वीप और दो समुद्र, मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त मनुष्यलोक है, उसके आगे मनुष्यका संचार नही है। व्यन्तर, भवनवासी, ज्योतिषी-यह तीन प्रकारके देव और तिर्यंच सब मध्यलोकमें है, उनमें जलचर पंचेन्द्रिय तथा विकलत्रय यह तो ढाई द्वीप, तथा अन्तका स्वयंभूरमण द्वीप आधा पहली तरफका और अन्तका स्वयंभूरमणसमुद्र सारा इनमें है। शेषके असंख्यात द्वीप समुद्रोमें विकलत्रय नहीं हैं। जलचर जीव लवणोदधि कालोदधि और स्वयंभूरमण-इन तीन ही समुद्रोंमें है; अन्य स्थानोंमें नहीं है। इस मध्यलोकमें अनेक प्रकारकी रचनायें है उनका विस्तार कहाँ तक कहा जाय। सुमेरुपर्वतके शिखर पर्यन्त एक लाख योजन मध्यलोक ऊँचा है। ज्योतिषचक्र सातसौ नब्बे योजनसे लेकर नौसौ योजन तक है। मध्यलोकके ऊपर स्वर्गलोक है; वहाँ सोलह स्वर्ग, नवग्रैवेयक, नव अनुदिश, पंचानुत्तर है; नव ग्रैवेयक, नवअनुदिश और पंचानुत्तरमें अहमिन्द्र है, वहाँ देवियाँ नही है, सभी ब्रह्मचारी हैं। स्वर्गलोकमें स्वर्गवासी देव तथा पाँच स्थावर ही हैं, अन्य त्रसजीव नही है। पंचानुत्तरके मध्य सर्वार्थसिद्धि है जिसके समान संसारमें और कोई दूसरा स्थान नही है, इसी सर्वार्थसिद्धिके ऊपर सिद्धलोक है जहाँ अनन्तानन्त सिद्ध विराजमान है, अजर अमर अविनाशी हैं।) इस सारे लोकमें यह संसारी जीव अनादि कालसे इन तीनों लोकमें अपनी भूलसे भ्रमण कर रहा है, उसे महान अपरिमित दुःख है अंशमात्र भी सुख नही। सुखका धाम तो सिद्धलोक ही है। सब लोकका आभूषण शुद्ध आत्मा हो सार है, शेष सर्व असार है। इस चार गतिरूप लोकका निवास कब छूटे ? ऐसा बारम्बार विचार करना उसे ही लोक भावना कहते हैं।

११-बोधिदुर्लभ भावना—(ससारमें निगोदराशिसे व्यवहारराशिमें आना दुर्लभ है फिर एकेन्द्री जीव, पृथ्वीकाय, अपकाय, अग्निकाय, वायुकाय, तथा प्रत्येक वनस्पति-कायसे निकलकर त्रसकायमें आना दुर्लभ है, उसमें भी दो इन्द्रीसे तीन इन्द्री होना दुर्लभ है, तीन इन्द्रीसे चार इन्द्री होना दुर्लभ है, चार इन्द्रीसे असैनी पचेन्द्री होना दुर्लभ है, असैनीसे सैनी पंचेन्द्री होना दुर्लभ है, पंचेन्द्री तिर्यञ्चसे मनुष्य होना अति दुर्लभ है। मनुष्यमें भी आर्यखण्ड, उत्तम कुल, दीर्घायु, धर्मबुद्धि पाना अत्यन्त दुर्लभ है पश्चात् सम्यक्त्वकी प्राप्ति और श्रावकके व्रत अति दुर्लभ हैं, श्रावकके व्रतसे मुनिके व्रत धारण करना अत्यन्त दुर्लभ है तथा मुनिव्रतमें भी शुभोपयोगकी अपेक्षा शुद्धोपयोगकी दशा

प्राप्त करना महान महान दुर्लभ है ।) संसारमें सभी वस्तुयें सुलभ हैं अर्थात् शीघ्र ही प्राप्त हो सकती हैं परन्तु केवलज्ञानका प्राप्त करना परम दुर्लभ है और केवलज्ञानके बिना इस जीवको मोक्ष नहीं मिल सकता इसलिये प्रत्येक प्राणीको उस केवलज्ञानकी प्राप्ति करनेमे तत्पर और प्रयत्नशील होना चाहिये । जबतक केवलज्ञानकी प्राप्ति नहीं होगी तबतक यह आत्मा संसारमें भ्रमण करता ही रहेगा इसलिये हे आत्मा ! यदि तुझे वास्तविक सुखकी प्राप्ति करनी हो तो तू शीघ्र ही चार घातियाकर्मोका नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर । इस प्रकार स्वसन्मुखता सहित बारम्बार चिन्तवन करना बोधि दुर्लभ भावना है ।

१२—धर्म भावना—वास्तवमें जीवको सुख देनेवाली वस्तु एक धर्म ही है, क्योंकि धर्म नाम स्वभावका है । प्रत्येक वस्तुका जो स्वभाव है वही उसका धर्म है । (जीव वस्तुका स्वभाव चैतन्य है वही परम धर्म है) जब यह द्रव्य अपने स्वभावमें परिणमन करता है तभी यह सुखी और शुद्ध कहलाता है । यह आत्माका जो ज्ञानगुण है वही उसका धर्म है । जब तक यह आत्मा अपने ज्ञानधर्म अथवा सम्यग्दर्शन—सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयधर्मका पूर्ण विकास नही करता तबतक इस संसार बन्धनमेंसे नहीं छूट सकता ।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि भी आत्माके दश धर्म है तथा जीवदया भी आत्माका धर्म है । यद्यपि यह धर्म प्रत्येक संसारी आत्मामें विराजमान हैं तो भी जब तक आत्मामें इनका विकास न हो तब तक यह आत्मा ससाररूपी जेलमेसे छूट नही सकता अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता । इस प्रकार बारबार चिन्तवन करना धर्मभावना है । इस प्रकार बारह भावनाओंका वर्णन किया । यह बारह भावनाये वैराग्यकी जननी है क्योंकि ससारसे वैराग्य उत्पन्न करनेमें यह प्रधान सहायक है इन बारह भावनाओंका चिन्तवन करनेसे वैराग्यकी पुष्टि होती है अतः इनका सदैव चिन्तवन करो ॥२०५॥

बाईस परीषह

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः ।
दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम् ॥२०६॥
स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा ।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधो निषद्या स्त्री ॥२०७॥

द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम् ।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन ॥२०८॥

अन्वयार्थः—[संक्लेशमुक्तमनसा] संक्लेशरहित चित्तवाला और [संक्लेशनिमित्तभीतेन] संक्लेशके निमित्तसे अर्थात् संसारसे भयभीत साधुको [सततम्] निरन्तर [क्षुत्] क्षुधा, [तृष्णा] तृषा, [हिमम्] शीत, [उष्णम्] उष्ण, [नग्नत्वं] नग्नपना, [याचना] प्रार्थना, [अरतिः] अरति, [अलाभः] अलाभ, [मशकादीनांदंशः] मच्छरादिका काटना, [आक्रोशः] कुवचन, [व्याधिदुःखम्] रोगका दुःख, [अङ्गमलम्] शरीरका मल, [तृणादीनां स्पर्शः] तृणादिकका स्पर्श, [अज्ञानम्] अज्ञान, [अदर्शनम्] अदर्शन, [तथा] इसी प्रकार [प्रज्ञा] प्रज्ञा [सत्कारपुरस्कारः] सत्कार पुरस्कार, [शय्या] शयन, [चर्या] गमन, [वधः] वध, [निषद्या] आसन, [च] और [स्त्री] स्त्री-[एते] यह [द्वाविंशतिः] बाईस [परीषहाः] परीषह [अपि] भी [परिषोढव्याः] सहन करने योग्य हैं ।

टीकाः—'क्षुत् तृष्णा हिमं उष्णं नग्नत्वं याचना अरतिः अलाभः मशकादीनांदंशः आक्रोशः व्याधिदुःखं अङ्ग मलम् तृणादीनां स्पर्शः अज्ञानं अदर्शनं तथा प्रज्ञा सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधः निषद्या स्त्री एते द्वाविंशतिः अपि परीषहाः संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन सततं परिषोढव्याः ।'—अर्थः—भूख, प्यास, सरदी, गरमी, नग्नपना, याचना, अरति, अलाभ, मच्छरादिका काटना, निन्दा, रोगका दुःख, शरीरका मल, कंटक-काँटा आदि लगना, अज्ञान, अदर्शन, प्रज्ञा, सत्कार-पुरस्कार, शयन, चलना, वध, निषद्या (निवास-आसन) और स्त्री-इन बाईस परीषहोंको मुनिराज संक्लेश दूर करके और संक्लेशभावसे भयभीत होकर सदा सहन करते हैं । अब बाईस परीषहका संक्षिप्त वर्णन करते हैं ।

१-क्षुधा परीषह—भूखके वशीभूत होकर सब जीव बहुत दुःख पाते है परन्तु मुनिमहाराजको जब क्षुधा वेदना होती है तब ऐसा विचार करते हैं कि हे जीव ! तूने अनादिकालसे संसारमे परिभ्रमण करते हुए अनेक प्रकारकी अनन्त पुद्गलराशिका भक्षण किया है तब भी तेरी क्षुधा शान्त नहीं हुई तथा नरक गतिमें भी अत्यन्त क्षुधा सहन की अभी तू इस समय मोक्षकी प्राप्तिके लिये तैयार हो गया है, तेरा यह शरीर तो यहीं पड़ा रह जायेगा अतः शान्तज्ञानानन्द स्वरूपमे लीनता करके भूखका नाश कर

जिससे शीघ्र ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाय। इस प्रकारके भावों द्वारा साधुगण क्षुधा परीषहको सहन करते है।

२–तृषा परीषह—सभी जीव प्याससे बहुत दुःखी होते है। मुनिराज ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतके शिखर पर रहते है, वहाँ अनेक उपवास धारण करनेके कारण उन्हें तृषाकी बाधा उत्पन्न होती है, फिर भी वह धीर–वीर साधु इस प्रकारकी भावना करके मनमें समाधान लाते है कि हे जीव ! तूने इस संसारमें भटकते हुए सारे जगतका जल पी लिया तो भी तेरी प्यास आजतक शान्त नही हुई। नरकगतिमें ऐसी तृषा उत्पन्न हुई जो समुद्रोंका जल पीने पर भी न मिटे परन्तु वहाँ एक बूंद मात्र भी जल प्राप्त नही हुआ तथा तिर्यञ्चगतिमें अति तृषा सहन की और मनुष्यगतिमें भी तृषा–वेदना सहन करनी पड़ी। हे जीव ! तूने जगत वन्द्य मुनिपद धारण किया है इसलिये इस तृषा परीषहको सहन करते हुए आत्मध्यानमें चित्त लगा जिससे यह तृषा सदाके लिये मिट जाय। इस प्रकार तृषा परीषह मुनिराज सहन करते है और संयमसे विचलित नहीं होते। यही तृषा परीषह है।

३–शीत परीषह—शीतके कारण ससारके प्राणी अति दुःखी होते है, हरे भरे वृक्ष भी हिमपातके कारण दग्ध हो जाते है ऐसे पौष–माघकी भयङ्कर शीतमें महाधोर नग्नशरीर मुनिराज नदी अथवा सरोवरके किनारे कायोत्सर्ग या पद्मासन धारण करके ध्यान करते है उस समय शीतकी बाधा होने पर भी वह खेद नही करते अपितु ऐसा विचार करते हैं कि हे जीव ! तूने अनादिकालसे अनन्तबार पशुगति और मनुष्यगतिमे भी अत्याधिक महान शीत–(ठण्ड) सहन की है। यद्यपि तूने उसे दूर करनेके लिये अनेकानेक उपाय किये है तो भी आजतक तेरी ठण्ड मिटी नही है। अब तूने मुनिव्रत धारण किया है, इसी पदसे मोक्षकी प्राप्ति होगी, अतः हे जीव ! तू इस शीतकी परीषहको सम्यक् प्रकारसे सहन कर। ऐसा चिन्तवन–विचार करके आत्मध्यानमें लीन होना–यही शीत परीषह कही जाती है।

४–उष्ण परीषह—ग्रीष्म ऋतुमें सूर्य बहुत तप्तायमान होता है, सारे जगतके प्राणी गरमीकी पीड़ासे महा व्याकुल हो जाते है, नदी–सरोवरोंका जल सूख जाता है, उस समय मुनिराज पर्वतके शिखर पर पत्थरकी शिला पर बैठकर (सूर्य सन्मुख मुख करके आतापन योग धारण करते हैं तथा) ऐसा विचार करते है कि हे आत्मन् ! तूने अग्निपर्याय धारण करके प्रचण्ड गरमी सहन की है, नरकगतिमें बहुत गरमी सहन की

है, तो अब यहाँ गरमी है ही कितनी ? इस समय तूने मुनिव्रत धारण किया है अतः आत्मानन्दरूपी अमृतसे तृप्त होकर इतनी तुच्छ धूपकी बाधा आनन्दसे सहन कर। इस तरह चिन्तवन करके उष्ण परीषह सुखपूर्वक जीतते हैं। इसे ही उष्ण परीषह कहते है।

५–नग्न परीषह—नग्न मुद्राधारी महा अविकारी मुनि भयङ्कर वनमें एकाकी रहते है। सूतके वस्त्र, रेशमी वस्त्र, टाटके वस्त्र, सणके वस्त्र तथा घास आदिके सकल प्रकारके वस्त्रोंका त्याग करते है, चर्म, रोम तथा वृक्षोंके वल्कलादि कुछ भी नहीं रखते, जिनके दशों दिशाये ही वस्त्र हैं उन्हें और क्या चाहिये ? ऐसे दिगम्बर मुनिराज अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए अपने आत्मध्यानमें लीन रहते है। नग्न रहनेसे रंचमात्र भी दुख नहीं मानते, हमेशा अपने आत्मामें लीन रहते है—इसीको नग्न परीषह कहते है।

६–याचना परीषह—(याचनासे सभी ससारी जीव दुखी हो रहे है, दूसरोंकी क्या कहें, इन्द्र, चक्रवर्त्ती सरीखे भी अभिलाषासे रंक हो रहे हैं परन्तु अयाचक व्रतधारी मुनिराज किसीसे भी कुछ माँगते नहीं। अरे ! जिन्हें तीर्थंकर जिनराजसे भी मोक्षरूपी लक्ष्मी नही माँगनी वह भला अन्य किसीसे और कोई वस्तु क्या माँगेंगे ? याचना समान जगतमें अन्य न्यूनता नही, और अयाचकव्रत समान त्रैलोक्यमें अन्य उत्कृष्टता नहीं। मुनिव्रतका मूल अयाचीवृत्ति है, स्नान, भोजन, धर्मोपकरणादि कुछ भी किसीसे नही माँगते–महा निरभिलाषी रहते है)।

मुनिराजको भले ही उन्हें हफ्तों, महीनों, वर्षो तक आहार न मिले तो भी मुनिराज कभी किसी श्रावकसे आहारकी याचना नही करते—इसीलिये मुनिकी वृत्तिको सिंहवृत्ति कहते है। इस प्रकार याचना परीषहको जीतते हैं।

७–अरति परीषह—जगतके जीव इष्ट पदार्थोंके प्राप्त होने पर रति मानते हैं और अनिष्ट पदार्थोंके प्राप्त होने पर अरति–खेद मानते है किन्तु मुनिराज चाहे जङ्गलमें रहें, कोई उनको भला–बुरा कहे, तो भी कदापि रति–अरति नही मानते। जिनके महल और भयंकर वन, शत्रु और मित्र, कनक और पाषाण, स्तुति और निन्दा, सुख और दुख, जीवन और मरण सर्व समान है अर्थात् अपने चित्तमें सदैव समता धारण करनेवाले साधु अरति परीषह जीतते हैं।

८–अलाभ परीषह—साधुने अनेक उपवास किये हों और यदि पारणाके दिन निर्दोष आहारका लाभ न हो तो चित्तमें रंचमात्र खेद नही मानते। इस प्रकार जो

यतीश्वर लाभ-अलाभ दोनोंको समान मानते हैं वही अलाभ परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

९-दंशमशक परीषह—डांस, मच्छर, चींटी, मकोड़ा आदि जीवोंके डंककी पीड़ा जगतके प्राणी सहन नही कर पाते परन्तु योगीश्वर उन सबकी बाधा-पीड़ा सहन करते है, वह काटनेवाले सभी प्राणिओं द्वारा अपने नग्न शरीरमें बहुत बाधा-पीड़ा उत्पन्न किये जाने पर भी मुनि महाराज कभी भी मनमें खेद करते नहीं। इस तरह दंशमशक परीषह जीतते है।

१०-आक्रोश परीषह—जो कोई दिगम्बर मुनिको देखकर निन्दा करते है, दुर्वचन कहते है, गाली देते है, परन्तु ऐसे निष्ठुर वचन सुनकर किंचित्‌मात्र खेद नही करते, परन्तु उत्तम क्षमा ही धारण करते है। इस प्रकार मुनिराज आक्रोश परीषह पर विजय प्राप्त करते है।

११-रोग परीषह—पूर्वोपार्जित असातावेदनीय कर्मके उदयसे शरीरमें पीड़ा हो जाय तो मुनि महाराज उस रोगसे दुःखी होते नही। (रोग हो जाने पर लौकिकजन अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं परन्तु मुनिराज अपने शरीरमें इन रोगोंके उपस्थित होने पर किसी प्रकारका खेद चित्तमें नही आने देते और न उन रोगोके प्रतिकारका कोई उपाय करते है) वह तो पूर्वकृत कर्मोका फल जानकर अत्यन्त निश्चलतापूर्वक आत्मध्यानमें लीन रहते है। इसे रोग परीषह कहते है।

१२-मल परीषह—(अपने त्रैकालिक निर्मल ज्ञानानन्दमय स्वरूपके आलम्बनमें ही सावधान होनेसे) मुनिराजके तो जीवनपर्यन्त स्नान और विलेपनका त्याग होता है। ग्रीष्मऋतुमे धूपमें रहनेके कारण पसीनाके योगसे शरीरमें धूल आकर जम जाती है, नग्न शरीर मलिन दिखाई पड़ता है तो भी संयमी साधुका इस शरीरके प्रति ध्यान नही जाता क्योंकि वे अपने आत्मगुणोंमें ही लीन रहा करते हैं उसे ही मल परीषह कहते हैं। (और वे ऐसी भावना भाते है कि हे जीव ! यह शरीर तो स्वभावसे ही महा मलिन है, इसे तो समुद्रके जलसे धोया जाय तो भी पवित्र नही हो सकता और तू तो परम पवित्र आत्मा है अतः इस शरीरकी मलिनतासे तू कैसे मलिन हो सकता है ? नही हो सकता। कारण कि अमूर्तिक पदार्थको मलका संसर्ग-स्पर्श ही नही हो सकता। इसलिये हे आत्मन् ! तू इस देहका स्नेह त्याग कर अपने शुद्धभावोंमें लीन-स्थिर हो जा। यह विचार करके मुनि मल परीषह सहते है।

१३–तृण स्पर्श—जगवासी जीवोंके शरीरमें यदि एक फाँस भी लग जाय तो बेचैन हो जाते हैं परन्तु जीवोंकी रक्षा करनेमें तत्पर संयम–धनके धनी योगीन्द्रके शरीरमें चलते अथवा बैठते समय तृण, कंकड़, कण्टक, फांस इत्यादि चुभ जाय तो उसको निकाल कर फेंकनेका कुछ भी उपाय करते नहीं अपितु निर्व्याकुल होकर निज स्वरूपमें ही लीन रहते है। यह तृणस्पर्श परीषह है।

१४–अज्ञान परीषह—संसारी समस्त प्राणी अज्ञानवश दुःखी हो रहे हैं, निज स्वरूपका ज्ञान नही है। यदि कदाचित् पढ़नेका अभ्यास करें और शब्दार्थका लाभ न हो तो मनमें खेद करते है और पठनसे अरुचि करने लगते हैं परन्तु महामुनिराजको पूर्वोपार्जित ज्ञानावरणीयकर्मके उदयसे पठन–पाठनका उद्यम करने पर तथा अनेक वर्षों तक महान तप करने पर भी यदि श्रुतका पूर्ण ज्ञान नहीं होता अथवा अवधि, मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता तो भी वह खेद नहीं करते अपने नित्यानन्दस्वरूपमें ही सन्तोष धारण करते हैं उसे अज्ञान परिषह कहते हैं। (ऐसा विकल्प नही करते कि देखो, मुझे तप करते हुए इतना दीर्घकाल व्यतीत हो गया फिर भी मुझे ज्ञानकी वृद्धि नही हुई। यदि कोई मूढ़ पुरुष उन्हें देखकर कहे कि यह साधु कितना अज्ञानी है तो भी वह उसके वचनोंसे खेदखिन्न नहीं होते अथवा यदि ज्ञानकी वृद्धि हो जाय तो उस ज्ञानका कभी गर्व नहीं करते। ऐसे यतीश्वर अज्ञान परीषहके जीतनेवाले कहे जाते है।)

१५–अदर्शन परीषह—जगतके जीव समस्त कार्य अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये करते हैं और यदि पुरुषार्थके करने पर भी प्रयोजनकी सिद्धि न हो अथवा उसमें कुछ न्यूनता रह जाय तो क्लेश मानते हैं (परन्तु वह मुनिराज ऐसा विचार नहीं करते कि मैं बाल अवस्थामें ही महाव्रतादि धारण कर रहा हूँ और चिरकाल तक उग्रोग्र तप करनेके बाद भी यदि किसी ऋद्धि आदि अतिशयकी प्राप्ति नहीं होती) ऐसा विचार भी कदापि नही करते कि मुझे स्वाध्याय और तप करते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया, कषायों पर भी मैंने विजय प्राप्त करली है, संयमका भी निरतिचार पालन कर रहा हूँ फिर भी मुझे अब तक कोई ऋद्धि उत्पन्न नहीं हुई और न कोई ज्ञानातिशय ही प्राप्त हुआ। न मालूम इस तप–संयमका कोई फल दिखाई देगा भी या नही ? इस प्रकारका कोई संशय या विकल्प करके मुनिराज सम्यग्दर्शनमे दोष नही लगाते और तप–संयम अचल रहते हैं। इसे अदर्शन परीषह कहते हैं।

१६-प्रज्ञा परीषह—लौकिक जन थोड़ा भी ज्ञान हो जाने पर उसका अति गर्व करने लग जाते है और मनमें ऐसा विचारने लगते है कि मेरे समान कोई बुद्धिमान नहीं है किन्तु महामुनिराजको शब्द, अर्थ, छन्द, न्याय, अलंकारादि द्वादशांगका पूर्ण ज्ञान है अथवा अवधिज्ञान या मन:पर्ययज्ञान है तो भी रंचमात्र गर्व नहीं करते और बुद्धिकी मन्दता होने पर खेद नहीं करते, यदि कोई व्यक्ति उन्हें बुद्धिहीन बताये तो उससे द्वेषभाव नही रखते। ऐसे योगी ही प्रज्ञा परीषह सहनशील होते है।

१७-सत्कारपुरस्कार परीषह—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, संसारके सभी जीव आदर-सत्कारसे हर्षित होते है और सत्कार करनेवालेके प्रति मैत्रीभाव रखते है तथा अनादर करनेवालेके प्रति शत्रुता रखते है इस प्रकार निरन्तर रागद्वेषरूप परिणमन करते है किन्तु वीतरागताके धारक यतीश्वर, इन्द्र और चक्रवर्त्ती आदिके द्वारा पूजा-स्तुति किये जाने पर अथवा किसी अविवेकी जनके द्वारा निन्दा किये जाने पर किसीसे राग-द्वेष नहीं करते, अपितु समताभाव धारण करते हुए मनमें ऐसा विचार करते हैं कि हे जीव! तू तो दृष्टि-अगोचर वचन अगोचर अमूर्त्तिक पदार्थ है, उसका कोई सत्कार अथवा स्तुति भला कैसे कर सकता है? और यह शरीर पदार्थ तो मैथुनसे उत्पन्न मल-मूत्रका भाजन है वह भला स्तुति योग्य कैसे हो सकता है? कदापि नही हो सकता। इसलिये स्तुति और निन्दासे हर्ष-विषाद मानना व्यर्थ है। इस प्रकार जो मुनिराज किसीके पाससे आदर-सन्मानकी इच्छा नही करते और अनादरसे खेद खिन्न नही होते वही सत्कार-पुरस्कार परीषह विजयी होते हैं।

१८-शय्या परीषह—जगतके जीव विषयाभिलाषी होकर कोमल शय्या पर सोनेका अनुराग रखते हैं परन्तु योगीश्वर मुनिराज (स्वर्ण-रत्नादिकके महल तथा सुन्दर शय्यादिक त्याग कर) वनवासी होकर कंकरीली विषम भूमिमें रात्रिके पिछले पहरमें एकासनसे थोड़ीसी निद्रा लेते हैं और वहाँ अपने क्षीण शरीरमे कंकड़ आदि चुभते है उनसे दुखी नही होते, परन्तु ऐसी भावना भाते है कि हे जीव! तूने नरककी तीव्र वेदना अनन्तबार सहन की है, उसके समान अन्य कोई विषम भूमि नही है, यह भूमि तो कुछ भी विषम नही है कि जिसका तू व्यर्थमें खेद करता है। अब तो तूने त्रैलोक्य पूज्य जिनमुद्रा धारण की है तूं मोक्षार्थी ही है और इस भवसमुद्रसे पार होकर निर्वाण द्वीपको जाना चाहता है अतः मोहरूपी निद्राको जीतकर योगमे आरूढ़ हो, सदा जागृत रहकर अपने स्वरूपमें मग्न हो, शय्या परीषहकी बाधासे चित्तमे अस्थिरता मत आने दे। इस तरह विचारते हुए मुनिराज शय्या परीषह सहन करते हैं। यह शय्या परीषहका जीतना है।

१९—चर्य्या परीषह—संसारी जीव हाथी, घोड़ा, रथ, पालकी आदि सवारी पर सुहावने समयमें भी चढ़कर गमन करनेमें खेद मानते हैं तथा तिर्यञ्च भी गमन करनेमें दुःखी होते हैं परन्तु मुनिमहाराज चलते समय ईर्यापथ शोधते हुए चलते है। ग्रीष्मऋतुमें दशों दिशायें तप्तायमान हो जाती हैं और मार्गमें कंकड़, पत्थर कण्टकादि चुभते हैं तो भी किंचित् खेद नहीं मानते। इस प्रकार महामुनिराज चर्य्या परीषह पर विजय प्राप्त करते है।

२०—वध परीषह—भववासी जीव मारने-पीटनेसे सदैव भयभीत होते है, यदि कोई उनके ऊपर उपद्रव करे तो उससे द्वेष करके अति तीव्र कषाय धारण करते है परन्तु मुनिराज कोई पापी जीव बांधे अथवा दण्ड, पाषाणादिसे मारे और नाना प्रकारका उपसर्ग करके महान कष्ट पहुँचावे तो भी वे उससे रञ्चमात्र भी द्वेष नही करते, समताभाव ही रखते हैं और ऐसा विचार करते हैं कि मेरा आत्मा तो अमूर्तिक है, अविनाशी चिदानन्दमय है, उसे दुःख कौन दे सकता है? कौन मार सकता है? कौन पीट सकता है? मैं तो ज्ञानानन्द स्वरूप ही हूँ। इस प्रकार मुनिराज वध परीषह जीतते हैं।

२१—निषद्या परीषह—संसारके समस्त जीव उत्तम मनोज्ञ स्थानमें बैठकर सुख मानते हैं परन्तु (मुनिराज पहले राज्यादिक पदवीमें, कंचन रत्नादिकके महलोमें, विलास करते थे उन्होने अब स्वरूपको पहचान कर निश्चयसे अपना स्थान अपनेमें ही जान लिया है।) मुनिराज सकल परिग्रहका त्याग करके महा निर्जन वनमे जहाँ सिंहादिक अनेक क्रूर वनचर जीव रहते हैं वहाँ पर्वतकी गुफाओंमें, शिखरों पर अथवा स्मशान भूमिमें निवास करते है, उन विषम स्थानोंमें भी अनेक व्यन्तरादिक विविध प्रकारके उपसर्ग करते है तो भी वे महाधीर रंचमात्र भी दुःख नही मानते और उस स्थानको नही छोड़ते। इस प्रकार निषद्या परीषहको जीतते हैं।

२२—स्त्री परीषह—देव, मनुष्य, तिर्यंचादि संसारी जीव स्त्रीके रागसे सुख मानते हैं और उनके साथ हास्य, रति, केलि, कौतूहलादि करके आनन्द मानते हैं किन्तु मुनिराजने तो कामिनीका संग ऐसे त्याग दिया है जैसे सज्जन पुरुष दुर्जनका साथ छोड़ देते हैं। स्त्रीके शरीरको महामलिन दुर्गतिका कारण जानकर उससे कभी अनुराग नही करते, सुन्दर रमणियोंके मिष्ट वचन सुनकर भी, हावभाव-विलास-विभ्रम कौतुककी क्रियाओंको देखने पर भी किंचित् मात्र भी विचलित नही होते और अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए स्वात्मध्यानमे लीन रहते हैं अर्थात् सकल विभाव-परिणतिको छोड़कर

अपनी ज्ञानानन्दरूप स्वभाव परिणतिमें ही रमण करते हैं। इस प्रकार स्त्री परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

इस तरह इन बाईस परीषहोंको मुनिराज निरन्तर संक्लेश और विषाद मनसे रहित होकर सहन करते हैं। उनका मन चतुर्गतिके दुख देनेमें कारणभूत ज्ञानावरणादि कर्मोसे भयभीत है। भावार्थ—जो मुनि संसार परिभ्रमणके क्लेशसे कंपायमान हो गए हैं वे ही दृढचित्त होकर बाईस परीषह सहन करते है और रचमात्र भी कायरता नहीं आने देते। जो मुनिराज परीषह सहन नही कर सकते उनके चित्तकी निश्चलता नही हो सकती और चित्तकी निश्चलताके बिना ध्यानमें आरूढ़ता नही हो सकती तथा ध्यानारूढता विना कर्म-काष्ठ भस्म नहीं हो सकते और कर्मोका नाश हुए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। इसलिये मोक्षाभिलाषी मुनिको परीषह अवश्य सहन करना चाहिए। इस तरह यह बाईस परीषहका वर्णन पूर्ण हुआ ॥२०८॥

मोक्षाभिलाषीको निरन्तर रत्नत्रयका सेवन करना चाहियेः—

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता ॥२०९॥

अन्वयार्थः—[इति] इस प्रकार [एतत्] पूर्वोक्त [रत्नत्रयम्] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय [विकलम्] एकदेश [अपि] भी [निरत्ययां] अविनाशी [मुक्तिम्] मुक्तिके [अभिलषिता] चाहनेवाले [गृहस्थेन] गृहस्थको [अनिशं] निरन्तर [प्रतिसमयं] हर समय [परिपालनीयम्] सेवन करना चाहिये।

टीकाः—'इति एतत् रत्नत्रयं प्रतिसमयं विकलं अपि निरत्ययां मुक्तिं अभिलषिता गृहस्थेन अनिशं परिपालनीयम्।'—

अर्थः—इस प्रकार यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय प्रति समय गृहस्थ श्रावकको भी यदि सर्वोदेश पालन न हो सके तो एकोदेश ही निरन्तर अविनाशी मोक्षका इच्छुक होते हुए पालन करना चाहिये।

भावार्थः—मुनिके तो रत्नत्रय पूर्णरूपसे है किन्तु गृहस्थ श्रावक सम्पूर्ण रत्नत्रयका पालन नही कर सकता इसलिये उसे एकदेश पालन करना चाहिये। किसी भी दशामें उसे रत्नत्रयसे विमुख नही होना चाहिये क्योंकि वह रत्नत्रय ही मुक्तिका कारण है। मुनिका रत्नत्रय महाव्रतके योगसे साक्षात् मोक्षका कारण है और श्रावकका रत्नत्रय

अणुव्रतके योगसे परम्परा मोक्षका कारण है, अर्थात् जिस श्रावकको सम्यग्दर्शन हो जाता है उसका अल्पज्ञान भी सम्यग्ज्ञान और अणुव्रत भी सम्यक्चारित्र कहा जाता है, इसलिये रत्नत्रयका धारण करना अत्यावश्यक है।

साततत्त्वोंकी श्रद्धा करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है और निजस्वरूपकी श्रद्धा अर्थात् स्वानुभव होना निश्चयसम्यग्दर्शन है। जिनागमसे आगमपूर्वक सात तत्त्वोंका जान लेना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। और निजस्वरूपका भान अर्थात् आत्मज्ञान निश्चयसम्यग्ज्ञान है। अशुभकार्योंकी निवृत्तिपूर्वक शुभकार्योंमें प्रवृत्ति करना व्यवहारसम्यक्चारित्र है और शुभ प्रवृत्तियोंसे भी निवृत्त होकर शुद्धोपयोगरूप निजस्वरूपमें स्थिर होना निश्चयसम्यक्-चारित्र है।—इस तरह रत्नत्रयका संक्षेपमें व्याख्यान किया। श्रावकको इसका एकदेश पालन अवश्य ही करना चाहिये बिना रत्नत्रयके किसी जीवका कल्याण कदापि हो नहीं सकता ॥२०९॥

गृहस्थोंको शीघ्र मुनिव्रत धारण करना चाहिये, ऐसा बताते हैं:—

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम् ॥२१०॥

अन्वयार्थः—[च] और यह विकलरत्नत्रय [नित्यं] निरन्तर [बद्धोद्यमेन] उद्यम करनेमें तत्पर ऐसे मोक्षाभिलाषी गृहस्थोको [बोधिलाभस्य] रत्नत्रयके लाभका [समयं] समय [लब्ध्वा] प्राप्त करके तथा [मुनीनां] मुनियोके [पदम्] पदका—(चरणका) [अवलम्ब्य] अवलम्बन करके [सपदि] शीघ्र ही [परिपूर्णम्] परिपूर्ण [कर्त्तव्यम्] करना योग्य है।

टीका:—'नित्यं बद्धोद्यमेन बोधिलाभस्य समयं लब्ध्वा च मुनीनां पदम् अवलम्ब्य सपदि परिपूर्णं कर्त्तव्यम्'।—अर्थः—गृहस्थको सदा उद्यमशील होकर सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिका समय प्राप्त करके मुनिपद धारण करके शीघ्र ही रत्नत्रयकी पूर्णता कर लेना चाहिये।

भावार्थः—विवेकी पुरुष गृहस्थ दशामें ही संसार और शरीर भोगोंसे विरक्त होकर सदैव मोक्षमार्गमें उद्यमी रहते हैं। वे अवसर पाकर शीघ्र मुनिपद धारण करके, सकल परिग्रहका त्याग करके, निर्विकल्प ध्यानमें आरूढ़ होकर, पूर्ण रत्नत्रयको प्राप्त करके, ससारभ्रमणका नाश करके मोक्षकी प्राप्ति शीघ्र कर लेते हैं। अथवा एक देश

रत्नत्रयको धारण करके इन्द्रादिक उच्चपद और परम्परासे मोक्ष भी प्राप्त करते हैं ।।२१०।।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ।।२११।।

अन्वयार्थः—[असमग्रं] अपूर्ण [रत्नत्रयम्] रत्नत्रयकी [भावयतः] भावना करनेवाले पुरुषके [यः] जो [कर्मबन्धः] शुभकर्मका बन्ध [अस्ति] होता है [सः] वह बन्ध [विपक्षकृतः] विपक्षकृत अर्थात् राग कृत है, (और) निश्चय रत्नत्रय तो [अवश्यं] अवश्य ही [मोक्षोपायः] मोक्षका उपाय है, [न बन्धनोपायः] बन्धका उपाय नहीं है ।

टीकाः—'असमग्रं रत्नत्रयं भावयतः यः कर्मबन्धः अस्ति सः विपक्षकृतः रत्नत्रयं तु अवश्यं मोक्षोपायः अस्ति न बन्धनोपायः ।'—अर्थः—एकदेशरूप रत्नत्रयके पालन करनेवाले पुरुषको जो कर्मबन्ध होता है वह रत्नत्रयसे नहीं होता, किन्तु रत्नत्रयके विपक्षी रागद्वेष है उससे होता है । वह रत्नत्रय तो अवश्य वास्तवमें मोक्षका ही उपाय है, बन्धका उपाय नहीं ।

भावार्थः—एकदेश रत्नत्रय धारण करनेवाले जीवके जो कर्मबन्ध होता है वह कर्मबन्ध उस रत्नत्रयसे नहीं होता बल्कि उसके उस समय विद्यमान जो शुभकषाय है उसीसे होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मबन्ध करनेवाली तो शुभकषाय है—रत्नत्रय कदापि नहीं ।।२११।।

अब रत्नत्रय और रागका फल बताते हैं:—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।।२१२।।
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।।२१३।।
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।।२१४।।

अन्वयार्थः—[अस्य] इस आत्माके [येनांशेन] जितने अंशमें [सुदृष्टिः] सम्यग्दर्शन है, [तेन] उतने [अंशेन] अंशमें [बन्धनं] बन्ध [नास्ति] नही है [तु] परन्तु [येन] जितने [अंशेन] अंशमें [अस्य] इसके [रागः] राग है, [तेन] उतने [अंशेन] अंशमें [बन्धनं] बन्ध [भवति] होता है। [येन] जितने [अंशेन] अंशमें [अस्य] इसके [ज्ञानं] ज्ञान है, [तेन] उतने [अंशेन] अंशमें [बन्धनं] बन्ध [नास्ति] नही है [तु] परन्तु [येन] जितनें [अंशेन] अंशमें [रागः] राग है, [तेन] उतने [अंशेन] अंशमे [अस्य] इसके [बन्धनं] बन्ध [भवति] होता है। [येन] जितने [अंशेन] अंशमें [अस्य] इसके [चरित्रं] चारित्र है, [तेन] उतने [अंशेन] अंशमें [बन्धनं] बन्ध [नास्ति] नहीं है, [तु] परन्तु [येन] जितने [अंशेन] अंशमें [रागः] राग है, [तेन] उतने [अंशेन] अंशमे [अस्य] इसके [बन्धनं] बन्ध [भवति] होता है।

टीकाः—'येन अंशेन सुदृष्टिः तेन अंशेन बन्धनं नास्ति किन्तु येन अंशेन रागः तेन अंशेन बन्धनं भवति'।—अर्थः—जितने अशमें सम्यग्दर्शन है उतने अंशमे कर्मबन्ध नही है तथा जितने अंशमे रागभाव है उतने ही अंशमें कर्मका बन्ध है।

भावार्थः—जीवके तीन भेद है—१. बहिरात्मा, २. अंतरात्मा, ३ परमात्मा। इन तीनमेंसे बहिरात्मा तो मिथ्यादृष्टि है क्योकि उसके सम्यग्दर्शन नही है, केवल रागभाव ही है अतः सर्वथा बन्ध ही है। और परमात्मा भगवान जिनके पूर्ण सम्यग्दर्शन हो गया है उनके रागभावके अत्यन्त अभाव होनेके कारण सर्वथा बन्ध नही है, मोक्ष ही है।

अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक है, इसलिये इस अन्तरात्माके जितने अंशमें *सम्यग्दर्शन हो गया है उतने अंशमें कर्मका बन्धन नही है और जितने अशमें रागभाव है उतने अशमें कर्मका बन्ध है। चतुर्थ गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी रागभाव नही है तो उतना कर्मबन्ध भी नहीं है, शेष अप्रत्याख्यानावरणादि तीनका बन्ध है। पाँचवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानरूप रागभावका अभाव हुआ अतः उसका भी बन्ध रुक गया, परन्तु प्रत्याख्यानावरणादि दो का बन्ध अभी शेष है। (छठे-सातवें गुणस्थानमें प्रत्याख्यानावरणी सम्बन्धी रागभाव नष्ट हुआ तब उतना बन्ध भी मिट

---

* चतुर्थ गुणस्थानमें सभी जीवोंको सम्यग्दर्शन तो पूर्ण शुद्ध है अतः उस अपेक्षासे राग नहीं—बन्ध नहीं, किन्तु जितना चारित्रका दोष है उतना बन्ध है।

गया ।) जितने अंशमें जो जीवके सम्यग्ज्ञान हो गया है उतने ही अंशमें रागभावका अभाव होनेके कारण कर्मका बन्ध नहीं है और जितने अंशमें रागभाव है उतने ही अंशमें कर्मोंका बन्ध है ॥२१२॥

भावार्थः—(मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जीवके सम्यग्ज्ञानका अभाव है और मिथ्याज्ञानका सद्भाव है इसलिये उनको पूर्ण रागद्वेष होनेसे अवश्य ही कर्मका बन्ध होता है। तेरहवे गुणस्थानवर्ती परमात्मा है उन्हें पूर्ण सम्यग्ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्रगट हो जानेके कारण रागद्वेषका सर्वथा अभाव हो गया है अतः उनके कर्मका बन्ध बिलकुल नही है। और अन्तरात्मा जो अविरति सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर क्षीणमोह नामक बारहवे गुणस्थान तक है उसके जितने अशमें सम्यग्ज्ञान प्रगट होकर रागद्वेष मिटता जाता है उतने ही अंशमें कर्मका बन्ध नहीं है तथा जितने अंशमें रागद्वेष मौजूद है उतने ही अशमें कर्मबन्ध भी होता रहता है ॥२१३॥

जितने अशमें सम्यक्चारित्र प्रगट हो गया है उतने ही अंशमें कर्मका बन्ध नहीं है और जितने अशमें रागद्वेषभाव है उतने ही अंशमें कर्मका बन्ध है। ऊपरकी तरह यहाँ भी समझ लेना। बहिरात्माके मिथ्याचारित्र है, सम्यक्चारित्र रचमात्र भी नहीं है अतः उसके रागद्वेषकी पूर्णता होनेसे पूर्ण कर्मका बन्ध है, और परमात्माके पूर्ण सम्यक्चारित्र होनेके कारण रचमात्र भी कर्मका बन्ध नही है। अन्तरात्माके जितने अंशमें रागद्वेषभावका अभाव है उतने अशमे कर्मका बन्ध नही है और जितने अंशमें रागद्वेष है उतने अंशमें कर्मका बन्ध है।

भावार्थः—मोहनीयकर्मके दो भेद हैं—१-दर्शनमोह, २-चारित्रमोह। दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यादर्शन होता है और चारित्रमोहके उदयसे मिथ्याचारित्र अथवा अचारित्र होता है। (चारित्रके दो भेद है। एक स्वरूपाचरण, दूसरा सयमाचरण। इनमेंसे जघन्य स्वरूपाचरण तो चतुर्थ गुणस्थानमें प्रगट होता ही है तथा सयमाचरणके दो भेद है, एकदेश और सर्वदेश। पाँचवे गुणस्थानवर्ती श्रावकके तो एकदेश चारित्र है और छठेसे लेकर बारहवे गुणस्थान तक मुनिराजके सकलदेश चारित्र है तथा तेरहवे गुणस्थानमें पहुँचने पर वही मुनिराज जिनराज बन गए और परमात्मा कहलाये वहाँ उनके सम्यक्-चारित्रकी पूर्णता होकर बन्धका अभाव हो गया।) जितना जितना उन कषायोंका अभाव होता जाता है उतना २ ही उस केसम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्चारित्र गुणका विकास होता जाता है। जैसे कि दर्शनमोहनीयका अभाव होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है

और अनन्तानुबन्धी चौकड़ीका अभाव होने पर उतने अंशमें स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होता है। अप्रत्याख्यानावरणी चौकड़ीका अभाव होनेसे देशचारित्र प्रगट होता है। प्रत्याख्यानावरणी चौकड़ीका अभाव होनेसे सकलचारित्र प्रगट होता है। संज्वलन चौकड़ी और नव नोकषायका अभाव होनेसे यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है—इस तरह इस मोहनीयकर्मकी २५ प्रकृतियाँ ही जीवको रागद्वेष होनेमें निमित्तकारण हैं।

उनमेंसे अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान, अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध–मान, प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध–मान, संज्वलन क्रोध–मान–वे आठ और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा–सब मिलकर बारह प्रकृति तो द्वेषरूप परिणमनमें निमित्त हैं तथा शेष तेरह प्रकृतियाँ रागरूप परिणमनमें निमित्त हैं। इस प्रकार अनादिकालसे यह जीव इन्ही २५ कषायोंके वशीभूत होकर नित्य अनेक दुष्कर्म करता हुआ संसारसागरमें भ्रमण कर रहा है अतः आठों कर्मोमें इस मोहनीयकर्मको सर्व प्रथम जीतना चाहिये। जबतक मोहनीयकर्मका पराजय न हो तबतक शेष कर्मोका पराजय हो ही नहीं सकता। इसलिये सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करके दर्शनमोहका, सम्यग्ज्ञानसे ज्ञानावरणका और सम्यक्‌चारित्रसे चारित्रमोहनीयका नाश करके सम्यक्‌रत्नत्रय प्राप्त करना चाहिये। जब कोई भी जीव इसी क्रमसे कर्मोका नाश करके आत्माके गुणोंका विकास करेगा तभी वह अपने ध्येयको प्राप्त कर सकेगा ॥२१४॥

आत्माके साथ कर्मोंका बन्ध करानेवाला कौन है यह बात बताते हैं:—

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात्।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥२१५॥

अन्वयार्थः—[प्रदेशबन्धः] प्रदेशबन्ध [योगात्] मन, वचन, कायके व्यापारसे [तु] और [स्थितिबन्धः] स्थितिबन्ध [कषायात्] क्रोधादि कषायोंसे [भवति] होता है, परन्तु [दर्शनबोधचरित्रं] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्ररूप रत्नत्रय [न] न तो [योगरूपं] योगरूप है [च] और न [कषायरूपं] कषायरूप भी है।

टीकाः—'योगात् प्रदेशबन्धः भवति तु कषायात् स्थितिबन्धः भवति यतः दर्शनबोधचरित्रं योगरूपं च कषायरूपं न भवति।'—अर्थः—मन, वचन, कायके योगसे प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध होता है तथा क्रोधादि कषायोंसे स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है। यहाँ श्लोकमें यद्यपि प्रकृतिबन्ध और अनुभागबन्धका उल्लेख नही किया गया है तो भी उपलक्षणसे ग्रहण हो जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र यह तीन

न तो योगरूप है और न कषायरूप ही हैं। इसलिये रत्नत्रय कर्मबन्धका कारण नहीं हो सकता।

भावार्थः—बन्ध चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग-बन्ध। इनमेसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो योगोंसे होते है तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायोसे होते है। अब इन चारों बन्धोंका स्वरूप कहते है। १–प्रकृति-बन्ध–प्रकृति नाम स्वभावका है। कर्मोंकी मूल–प्रकृति आठ और उत्तर–प्रकृति एक सौ अड़तालीस है।

१–**ज्ञानावरणीयकर्मका** स्वभाव परदेके समान है, जैसे जिस वस्तुके ऊपर परदा ढँका हुआ हो वह परदा उस वस्तुका ज्ञान नही होनेमे कारण है, उसी प्रकार जब तक आत्माके साथ ज्ञानावरणीय कर्मरूपी परदा हो तब तक वह आत्माको पदार्थोका सम्यग्ज्ञान नही होनेमें कारण है।

२–**दर्शनावरणीयकर्मका** स्वभाव दरबान जैसा है। जिस प्रकार दरबान राजाका दर्शन नही होने देता वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म आत्माको स्व–पर पदार्थोका दर्शन नही होने देता।

३–**वेदनीयकर्मका** स्वभाव शहद लपेटी तलवारके समान है। जैसे तलवार चखने पर मीठी लगती है परन्तु जीभको काट डालती है। वैसे ही वेदनीय कर्म भी पहले थोड़े समय सुखरूप लगता है, पश्चात् दुख दायक बन जाता है।

४–**मोहनीयकर्मका** स्वभाव मदिरा जैसा है। जैसे मदिरा पीनेसे मनुष्य असावधान हो जाता है अर्थात् मनुष्यताका भान नही रहता, वैसे ही मोहनीय कर्ममें जुड़नेसे आत्मा अपने स्वरूपको भूलकर पर पदार्थोंमें अपनत्व, स्वामित्व तथा कर्त्ता–भोक्ता मानता है।

५–**आयुकर्मका** स्वभाव बेडीसहित जेल समान है। जिस प्रकार कोई मनुष्य जब तक जेलमे है तब तक वहाँसे निकलकर कही भी जा नही सकता उसी प्रकार जीवने जिस आयुकर्मका बन्ध किया है वह आयु जबतक पूर्ण न हो तबतक उसे उसी गतिमें रहना पड़ता है।

६–**नामकर्मका** स्वभाव चित्रकार समान है। जिस प्रकार चित्रकार भिन्न भिन्न जातिके अर्थात् कभी मनुष्यका, कभी घोड़ेका, कभी हाथीका चित्र बनाता है, उसी

प्रकार नामकर्म भी इस जीवको कभी मनुष्य, कभी घोड़ा, कभी बहरा, कभी गूँगा, कभी लँगड़ा इत्यादि प्रकारसे अनेकरूप बनाता है।

७-गोत्रकर्मका स्वभाव कुम्हार जैसा है। जैसे कुम्हार कभी छोटे और कभी बड़े बर्तन बनाता है वैसे ही गोत्रकर्म भी इस जीवको कभी उच्चकुलमें और कभी नीच कुलमें उत्पन्न करता है।

८-अन्तरायकर्मका स्वभाव भण्डारी जैसा है। जैसे राजा किसीको कोई इनाम आदि देता हो और भण्डारी उसे न देने दे, वैसे ही अन्तरायकर्म भी आत्माको प्राप्त होनेवाले पदार्थोमे अनेक प्रकारके विघ्न डालकर उन पदार्थोको प्राप्त नहीं होने देता अर्थात् यह दान लाभादिमें अन्तराय डालता है—इस तरह यह आठ कर्मोका स्वभाव है। यह सभी अपने अपने स्वभाव सहित जीवके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं इसीको प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

अब प्रदेशबन्धका वर्णन करते है। आत्माके असंख्यात प्रदेशोंमेसे एक एक प्रदेशके साथ कर्मके अनन्तानन्त-परमाणु बँधते हैं अर्थात् जीवके प्रदेश और कर्मके परमाणु-दोनों एक क्षेत्रावगाह होकर रहते है उसे प्रदेश बन्ध कहते हैं।

अब, स्थितिबन्धका वर्णन करते हैं। जो कर्म (जीवके साथ रहनेकी) अपनी अपनी स्थिति लिये हुए बँधे उसे स्थितिबन्ध कहते हैं। जैसे कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय-इन चार कर्मोकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी है और मोहनीय कर्ममेंसे दर्शनमोहनीयकी ७० कोड़ाकोड़ी तथा चारित्रमोहनीयकी ४० कोड़ाकोड़ी सागरकी है। नाम और गोत्रकर्मकी स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागरकी है। आयुकर्मकी स्थिति ३३ सागरकी है। इस प्रकार यह इन सबकी उत्कृष्ट स्थिति हुई। जघन्य स्थिति नाम और गोत्रकर्मकी ८ मुहूर्त्त, वेदनीयकी १२ मुहूर्त्त, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय और आयुकर्मकी अन्तर्मुहूर्त्त है। मध्यम स्थितिके अनन्त भेद है। इस प्रकार स्थितिबन्धका वर्णन किया।

अब अनुभागबन्धका वर्णन करते हैं। कर्मोका विपाक अर्थात् उनमें जो फल देनेकी शक्ति होती है उसे ही अनुभागबन्ध कहते हैं। यह अनुभागबन्ध घातियाकर्मोका तो केवल अशुभरूप ही होता है और अघातियाकर्मोका शुभरूप तथा अशुभरूप दोनो प्रकारका होता है। जैसे कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—इन चारका तो लता, लकड़ी, हड्डी और पत्थररूप क्रमसे बढ़ता बढ़ता बन्ध होता है। और

नाम, गोत्र, वेदनीय, आयु—इन चार कर्मोका यदि शुभरूप हो तो गुड़, खांड, शक्कर और अमृत समान क्रमशः बढ़ते हुए माधुर्यकी तरह शुभरूप फल देता है और यदि अशुभरूप हो तो नीम, काँजी, विष और हलाहल समान क्रमशः बढ़ती हुई कटुकताकी तरह अशुभरूप फल देता है। इस प्रकार इन सभी कर्मोका विपाक हुआ करता है। इस तरह चारों प्रकारके बन्धका वर्णन किया ॥२१५॥

रत्नत्रयसे बन्ध कैसे नहीं होता यह बात अब बताते हैं:—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥

अन्वयार्थः—[आत्मविनिश्चितिः] अपने आत्माका विनिश्चय [दर्शनम्] सम्यग्दर्शन, [आत्मपरिज्ञानं] आत्माका विशेष ज्ञान [बोधः] सम्यग्ज्ञान और [आत्मनि] आत्मामें [स्थितिः] स्थिरता [चारित्रं] सम्यक्चारित्र [इष्यते] कहा जाता है तो फिर [एतेभ्यः 'त्रिभ्यः'] इन तीनोंसे [कुतः] किस तरह [बन्धः] बन्ध [भवति] होवे ?

टीकाः—'आत्मविनिश्चितिः दर्शनं, आत्मपरिज्ञानं बोधः, आत्मनि स्थितिः चारित्रं इष्यते एतेभ्यः बन्धः कुतः भवति।'—

अर्थः—आत्माके स्वरूपका निश्चय करना सम्यग्दर्शन है, आत्माके स्वरूपका परिज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मस्वरूपमें लीन (अर्थात् निश्चल) होना सम्यक्चारित्र है। यह तीनों आत्मस्वरूप ही है। जब यह तीनो गुण आत्मस्वरूप ही हैं तो इनसे कर्मोंका बध कैसे हो सकता है ? अर्थात् कदापि नही हो सकता।

भावार्थः—रत्नत्रय दो प्रकारका है—१. व्यवहाररत्नत्रय, और २. निश्चयरत्नत्रय। देव, शास्त्र, गुरुका तथा सात तत्त्वोंका श्रद्धान करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है, तत्त्वोके स्वरूपको जान लेना व्यवहारसम्यग्ज्ञान है, अशुभ क्रियाओसे प्रवृत्ति हटाकर शुभ क्रियामें प्रवृत्ति करना व्यवहारसम्यक्चारित्र है। यह व्यवहाररत्नत्रय हुए। आत्मस्वरूपका श्रद्धान करना निश्चयसम्यग्दर्शन, आत्मज्ञान करना निश्चयसम्यग्ज्ञान, और आत्मस्वरूपमे परिणमन—विश्राम करना निश्चयसम्यक्चारित्र है। (यह निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मोक्षका कारण है—मोक्ष रूप ही है,) वह जीवको कर्मोसे छुड़ानेका कारण है परन्तु कर्मबन्धका कारण सर्वथा नही है ॥२१६॥

रत्नत्रय तीर्थंकरादि प्रकृतियोंके भी बन्धका कर्त्ता नहीं है, यह बात अब बताते हैं:—

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्म्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥२१७॥

अन्वयार्थः—[अपि] और [तीर्थंकराहारकर्म्मणाः] तीर्थंकर प्रकृति और आहारक द्विक प्रकृतिका [यः] जो [बन्धः] बन्ध [सम्यक्त्वचरित्राभ्यां] सम्यक्त्व और चारित्रसे [समये] आगममें [उपदिष्टः] कहा गया है, [सः] वह [अपि] भी [नयविदां] नयके ज्ञाताओंको [दोषाय] दोषका कारण [न] नही है।

टीकाः—'सम्यक्त्व चरित्राभ्यां तीर्थंकराहार कर्मणः बन्धः (भवति) यः अपि समयं उपदिष्टः सः अपि नयविदां दोषाय न भवति'।—अर्थः—सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे तीर्थंकर-प्रकृति और आहारक-प्रकृतिका बन्ध होता है, ऐसा जो सिद्धान्तमें उपदेश है वह भी अनेक नयके वेत्ता विवेकी जिनधर्मी पुरुषोंके समक्ष दोष अर्थात् विरोध उत्पन्न नही करता।

भावार्थः—सम्यक्दर्शन प्रगट होनेके पश्चात् ही तीर्थंकर नामकर्मकी प्रकृतिका बन्ध तथा सम्यक्चारित्र होनेके पश्चात् ही आहारक प्रकृतिका बन्ध होता है, तो जो ऐसा कथन है कि रत्नत्रय तो कर्मका बन्ध करनेवाला नही है वह कैसे ? ॥२१७॥

उसे स्पष्ट कहते हैं:—

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवतः।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥२१८॥

अन्वयार्थः—[यस्मिन्] जिसमें [सम्यक्त्वचरित्रेसति] सम्यक्त्व और चारित्र होने पर [तीर्थंकराहारबन्धकौ] तीर्थंकर और आहारकद्विकके बन्ध करनेवाले [योगकषायौ] योग और कषाय [भवतः] होते हैं [पुनः] और [असति न] नही होने पर नही होते, अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र विना, बन्धके कर्त्ता योग और कषाय नही होते [तत्] वह सम्यक्त्व और चारित्र [अस्मिन्] इस बन्धमे [उदासीनम्] उदासीन हैं।

टीकाः—'सम्यक्त्व चरित्रे सति योगकषायौ बन्धकौ भवतः तस्मात् तत्पुनः अस्मिन् उदासीनम्'।—अर्थः—सम्यक्त्व और चारित्रके प्रगट होने पर ही मन, वचन, कायके योग तथा अनन्तानुबन्धीको छोड़कर शेष तीन कषायोंकी उपस्थितिमें तीर्थंकर और

आहारकद्विकका बन्ध होता है। अतः रत्नत्रय है वह तो बन्धक नही है, बन्धमें उदासीन है। (तीर्थंकरका बन्ध तो योग, तीन चौकड़ी अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन तथा नव नोकषायमे होता है और आहारकद्विकका बन्ध योग, सज्वलन कषाय तथा नोकषायमें होता है, फिर भी वह सम्यक्त्व और चारित्र इस बन्धमे उदासीन है अर्थात् रागरूप नही है।)

भावार्थः—जब आत्मामें सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रगुण प्रगट नही था तब भी आत्माके साथ कर्मोका बन्ध होता था और जब एकदेश सम्यक्चारित्र प्रगट हो गया तब भी आत्माके साथ कर्मोका बन्ध होता है इससे सिद्ध हुआ कि कर्मोके बन्ध करनेमें कारण योग-कषायोंका सद्भाव है और कर्मोके अबन्धमे कारण योग-कषायोंका असद्भाव है ॥२१८॥

शङ्काः—यदि ऐसा है तो सम्यक्त्वको देवायुके बन्धका कारण क्यों कहा ?

ननु कथमेवं सिद्धयति देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥२१९॥

अन्वयार्थः—[ननु] शका—कोई पुरुष शंका करता है कि [रत्नत्रयधारिणां] रत्नत्रयके धारक [मुनिवराणां] श्रेष्ठ मुनियोको [सकलजनसुप्रसिद्धः] सर्व लोकमे भले प्रकार प्रसिद्ध [देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः] देवायु आदि उत्तम प्रकृतियोंका बन्ध [एवं] पूर्वोक्त प्रकारसे [कथम्] किस तरह [सिद्धयति] सिद्ध होगा।

टीकाः—'ननु रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणां सकलजनसुप्रसिद्धः देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः एवं कथम् सिद्धयति।'—अर्थः—यहाँ कोई शंका करे कि रत्नत्रयके धारक मुनिवरोंके देवायु आदि शुभ प्रकृतियोका बन्ध होता है ऐसा जो शास्त्रोमे कथन है वह कैसे सिद्ध होगा ?

भावार्थः—यहाँ कोई शका करता है कि हे स्वामी ! पहले आपने कहा है कि तीर्थंकर प्रकृति और आहारकद्विकका बन्ध योग और कषायोसे होता है, यह बात तो मेरी समझमें आ गई परन्तु रत्नत्रयके धारक मुनियोके देवायु आदि शुभ प्रकृतियोंका बन्ध होता है ऐसा जो शास्त्रोंमें कथन है वह किस प्रकारसे सिद्ध होगा ? ॥२१९॥

उसका उत्तरः—

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥

अन्वयार्थः—[इह] इस लोकमें [रत्नत्रयं] रत्नत्रयरूप धर्म [निर्वाणस्य एव] निर्वाणका ही [हेतु] कारण [भवति] होता है, [अन्यस्य] अन्य गतिका [न] नही, [तु] और [यत्] जो रत्नत्रयमें [पुण्यं आस्रवति] पुण्यका आस्रव होता है, [अयम्] यह [अपराधः] अपराध [शुभोपयोगः] शुभोपयोगका है ।

टीकाः—'इह रत्नत्रयं निर्वाणस्य एव हेतुः भवति अन्यस्य न तु यत् पुण्यं आस्रवति अयं अपराधः शुभोपयोगः' ।—अर्थः—इस लोकमें रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षका ही कारण होता है, दूसरी गतिका नही । तथा रत्नत्रयके सद्भावमें जो शुभ प्रकृतियोंका आस्रव होता है वह सब शुभकषाय और शुभयोगसे ही होता है, अर्थात् वह शुभोपयोगका ही अपराध है किन्तु रत्नत्रयका नहीं है । भिन्न भिन्न कारणोंसे भिन्न भिन्न कार्य होते है तो भी व्यवहारसे एक दूसरेका भी कार्य कहनेमें आता है ।

भावार्थः—(प्रथम श्लोकमें शिष्यने प्रश्न किया था कि तीर्थंकर और आहारकद्विकका बन्ध तो सम्यक्त्वके भावोंमें योग और कषायोसे बताया, फिर देवायु आदि अन्य शुभप्रकृतियोंका बन्ध रत्नत्रयमें कैसे हो सकता है ? उसका समाधान यह किया कि वास्तवमें रत्नत्रय तो निर्वाणका ही कारण है । परन्तु उसके होते हुए जो इन्द्रादि देवपदका आस्रव होता है वह शुभोपयोगका अपराध है । रत्नत्रयका दोष किञ्चित् भी नही है ।) ॥२२०॥

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि ।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमिति ॥२२१॥

अन्वयार्थः—[हि] निश्चयसे [एकस्मिन्] एक वस्तुमें [अत्यन्तविरुद्धकार्ययोः] अत्यन्त विरोधी दो कार्योंके [अपि] भी [समवायात्] मेलसे [तादृशः अपि] वैसा ही [व्यवहारः] व्यवहार [रूढिम्] रूढ़िको [इतः] प्राप्त है, [यथा] जैसे [इह] इस लोकमें '[घृतम् दहति] घी जलाता है'—[इति] इस प्रकारकी कहावत है ।

टीकाः—'हि एकस्मिन् अत्यन्तविरुद्धकार्ययोः अपि समवायात् यथा घृतम् दहति इति व्यवहारः अपि तादृशः व्यवहारः रूढिं इतः ।'—अर्थ.—एक ही वस्तुमे जिनका कार्य

परस्पर अत्यन्त विरुद्ध दो कार्योंका बन्ध होनेसे 'जैसे घी जलाते हैं' ऐसे एकमें दूसरेका व्यवहार हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी व्यवहार प्रसिद्ध हो गया है कि सम्यक्त्वसे शुभ प्रकृतियोंका बन्ध होता है। परस्पर विरुद्ध है, ऐसे ज्ञानभाव और रागभावके समवाय अर्थात् मिलापसे जो कर्मोका बन्ध होता है वह इस तरह जानना चाहिये जैसे अग्निके संयोगसे उष्ण हुए घृतके द्वारा कोई पुरुष जल गया, वहाँ यद्यपि जलानेका स्वभाव घृतका नही है—अग्निका ही है—परन्तु फिर भी उन दोनोंके संयोगसे लोकमें ऐसा कहा जाता है कि घृतने शरीरको जला दिया। उसी प्रकार सम्यक्त्व और रागभाव इन दोनोंके मिलापमें यद्यपि बन्धका कारण तो राग ही है—सम्यक्त्व नहीं—फिर भी व्यवहाररूढिसे यही प्रसिद्ध है कि रत्नत्रय इन्द्र–अहमिन्द्रादिक शुभवन्धका कारण है अर्थात् सम्यक्त्वसे शुभप्रकृतियोंका बन्ध होता है।

भावार्थः—जैसे अग्नि और घृत दोनों परस्पर विरुद्ध कार्य है। घृतका काम तो पुष्ट करनेका है और अग्निका काम जलानेका है। घी तो जलाता नही है किन्तु ऐसा कहा जाता है कि घी जलाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्वका काम कर्म–वन्ध करानेका नही है फिर भी जब आत्मामें सम्यक्त्व और रागभाव दोनोके सम्वन्धसे ऐसा कहा जाता है कि सम्यक्त्वसे कर्मका बन्ध होता है इसीलिये लोकमें व्यवहार भी ऐसा होता है कि सम्यक्त्वसे शुभकर्मोका बन्ध होता है, रत्नत्रयसे मोक्षका लाभ होता है ॥२२१॥

(विचार करनेसे ज्ञात होगा कि जलाना घीका लक्षण नही है, वह तो अग्निका ही लक्षण है। किन्तु दोनोका परस्पर संयोग हो जानेके कारण यदि यह कह दिया जाय कि अमुक पुरुष घृतसे जल गया तो कोई दोष नही है। उसी प्रकार एक पुरुपमें ज्ञानधारा और अज्ञानधारा दोनों एक ही समयमें चल रही है, वहाँ वन्धका कारण तो रागादिरूप अज्ञानधारा ही है, ज्ञानधारा बन्धका कारण नही है, फिर भी दोनोका सयोग होनेके कारण सम्यक्त्वको शुभबन्धका कारण कह दिया जाय तो दोप नही है। ऐसा व्यवहार इस लोकमे प्रसिद्धताको प्राप्त हुआ है) रत्नत्रयसे तो मोक्षका लाभ होता है ॥२२१॥

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥२२२॥

अन्वयार्थः—[इति] इस प्रकार [एषः] यह पूर्वकथित [मुख्योपचाररूपः] निश्चय और व्यवहाररूप [सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणः] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और

सम्यक्चारित्र लक्षणवाला [मोक्षमार्गः] मोक्षका मार्ग [पुरुषं] आत्माको [परं पदं] परमात्माका पद [प्रापयति] प्राप्त करवाता है ।

टीका:—'सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणः इति एषः मोक्षमार्गः मुख्योपचाररूपः पुरुषं परं पदं प्रापयति' ।—अर्थ:—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन स्वरूप ही मोक्षमार्ग अर्थात् निर्वाणका मार्ग है । यह मोक्षमार्ग निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है और यही आत्माको मोक्ष पहुँचाता है ।

भावार्थ:—निश्चयरत्नत्रय तो मुख्य है और व्यवहाररत्नत्रय उपचाररूप है, यह दोनों ही मोक्षके मार्ग है और जीवको परमपदकी प्राप्ति करवाते हैं अर्थात् निश्चय-मोक्षमार्ग साक्षात् मोक्षमार्गका साधक है तथा व्यवहारमोक्षमार्ग परम्परासे मोक्षमार्गका साधक है, अथवा व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका कारण है ॥२२२॥

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः ।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥२२३॥

अन्वयार्थ:—[नित्यमपि] हमेशा [निरुपलेपः] कर्मरूपी रजके लेपसे रहित [स्वरूपसमवस्थितः] अपने अनन्तदर्शन-ज्ञान स्वरूपमें भले प्रकार स्थित [निरुपघातः] उपघात रहित और [विशदतमः] अत्यन्त निर्मल [परमपुरुषः] परमात्मा [गगनम् इव] आकाशकी भाँति [परमपदे] लोक शिखरस्थितमोक्षस्थानमें [स्फुरति] प्रकाशमान होता है ।

टीका:—'नित्यम् अपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितः निरुपघातः विशदतमः परमपुरुषः गगनम् इव परमपदे स्फुरति ।'—अर्थ:—सदाकाल कर्ममल रहित, निजस्वरूपमें स्थित, घातरहित, अत्यन्त निर्मल ऐसे परमात्मा सिद्धपरमेष्ठी है वे मोक्षमे आकाशके समान दैदीप्यमान रहते है ।

भावार्थ:—पुरुष नाम जीवका है और परमपुरुष नाम परमात्मा सिद्ध भगवानका है । जीव तो नर-नारकादि चारों गतियोमें अपनी आयु प्रमाण थोड़े काल तक ही रहता है और सिद्ध भगवान मोक्षमे सदा अनन्तकाल तक विराजमान रहते हैं । संसारी जीव तो कर्ममलसे संयुक्त होनेके कारण मलिन है और सिद्ध भगवान कर्म मलसे रहित हैं इसलिये परम निर्मल हैं । समारी जीव पुण्य-पापरूपी लेपसे लिप्त हैं और सिद्ध परमात्मा आकाश समान निर्लेप हैं । ससारी जोव विभाव परिणतिके योगसे

सदा देहादिरूप हो रहे है और सिद्ध भगवान सदा निजस्वरूपमें ही विराजमान रहते हैं। संसारके जीव अन्य जीवोंका घात करते हैं तथा दूसरे जीवोंके द्वारा स्वयं भी घाते जाते है परन्तु सिद्ध परमेष्ठी न तो किसीका घात करते हैं और न किसीके द्वारा घाते जाते है। ऐसे सिद्धभगवान अखण्ड, अविनाशी, निर्मल, निजस्वरूपमें स्थित सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्षमें ही विराजमान रहते हैं ।।२२३।।

परमात्माका स्वरूप

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ।।२२४।।

अन्वयार्थः—[कृतकृत्यः] कृतकृत्य [सकलविषयविषयात्मा] समस्त पदार्थ जिनके विषय है अर्थात् सर्व पदार्थोंके ज्ञाता [परमानन्दनिमग्नः] विषयानन्दसे रहित ज्ञानानन्दमें अतिशय मग्न [ज्ञानमयः] ज्ञानमय ज्योतिरूप [परमात्मा] मुक्तात्मा [परमपदे] सर्वोच्च मोक्षपदमें [सदैव] निरन्तर ही [नन्दति] आनन्दरूपसे विराजमान है।

टीकाः—'परमात्मा कृतकृत्यः सकलविषयविषयात्मा (विरतात्मा) वा परमानन्द निमग्नः ज्ञानमयः परमपदे सदैव नन्दति।'—अर्थः—सिद्ध भगवानको कोई काम करना शेष नही रहा, वह सकल पदार्थोंको अपने ज्ञानमे विषय करनेवाले अथवा सर्व पदार्थोंसे विरक्त, परम सुखमें निमग्न और केवलज्ञान सहित परमपद अर्थात् मोक्षमें सदाकाल आनन्द करते है।

भावार्थः—संसारके अर्थात् चतुर्गतिके जीवोंको अनेक कार्य करनेकी अभिलापा है इसलिये कृतकृत्य नही है, सिद्ध परमेष्ठीको कोई काम करना शेष नहीं रहा इसलिये कृतकृत्य हैं। जगतके जीव परमपदसे-मोक्षसे विमुख है और अपदमें-(संसारमें) स्थित हैं, सिद्ध भगवान अपदसे रहित हैं और परमपदमें-मोक्षमें विराजमान हैं। संसारी जीव विषय विकार सहित है, सिद्ध परमात्मा विषय विकारसे रहित है। संसारी जीव अनेक शरीर धारण करते हुए दुःखी हो रहे हैं, सिद्ध परमेश्वर मन, वचन, कायसे रहित परम आनन्दमें लीन है। इत्यादि अनन्त गुणों सहित सिद्ध भगवान विराजमान हैं ।।२२४।।

जैन नीति अथवा नय-विवक्षा

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥२२५॥

अन्वयार्थः—[मन्थाननेत्रम्] दहीकी मथानीकी रस्सीको खेचनेवाली [गोपी इव] ग्वालिनीकी तरह [जैनी नीतिः] जिनेन्द्रदेवकी स्याद्वादनीति अथवा निश्चय-व्यवहाररूप नीति [वस्तुतत्त्वम्] वस्तुके स्वरूपको [एकेन] एक सम्यग्दर्शनसे [आकर्षन्ती] अपनी तरफ खेचती है, [इतरेण] दूसरेसे अर्थात् सम्यग्ज्ञानसे [श्लथयन्ती] शिथिल करती है और [अन्तेन] अन्तिम अर्थात् सम्यक्चारित्रसे सिद्धरूप कार्यको उत्पन्न करनेसे [जयति] सर्वके ऊपर वर्तती है ।

(अथवा दूसरा अन्वयार्थ)

अन्वयार्थः—[मन्थाननेत्रम्] दहीकी मथानीकी रस्सीको खेचनेवाली [गोपी इव] ग्वालिनीकी तरह जो [वस्तुतत्त्वम्] वस्तुके स्वरूपको [एकेन अन्तेन] एक अन्तसे अर्थात् द्रव्यार्थिकनयसे [आकर्षन्ती] आकर्षण करती है—खेंचती है, और फिर [इतरेण] दूसरी पर्यायार्थिकनयसे [श्लथयन्ती] शिथिल करती है, वह [जैनीनीतिः] जैनमतकी न्यायपद्धति [जयति] जयवन्ती है ।

टीकाः—'मन्थाननेत्रं गोपी इव जैनी नीतिः वस्तुतत्त्वं एकेन आकर्षन्ती इतरेण श्लथयन्ती अन्तेन जयति ।'—अर्थ.—दहीकी मथानीकी रस्सीको खेचनेवाली ग्वालिनीकी तरह जिनेन्द्र भगवानकी जो नीति अर्थात् विवक्षा है वह वस्तुस्वरूपको एक नय-विवक्षासे खेचती है, दूसरी नय-विवक्षासे ढीला करती है वह अन्ते अर्थात् दोनो विवक्षाओसे जयवन्त रहे ।

भावार्थः—यह कि भगवानकी वाणी स्याद्वादरूप अनेकान्तात्मक है । वस्तुस्वरूपका निरूपण प्रधान तथा गौणनयकी विवक्षासे करनेमे आता है । जैसे कि जीवद्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है । द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे नित्य है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे अनित्य है, यही नय-विवक्षा है ।।२२५।।

[नोंधः—इस श्लोकमे यह बताया है कि शास्त्रमें किसी स्थानपर निश्चयनयकी मुख्यतासे कथन है और किसी स्थान पर व्यवहारनयकी मुख्यतासे कथन है । परन्तु

उसका अर्थ यह नही है कि सच्चा धर्म किसी समय व्यवहारनय (अभूतार्थनय)के आश्रयसे होता है और किसी समय निश्चयनय (भूतार्थनय)के आश्रयसे होता है। वास्तवमें धर्म तो हमेशा निश्चयनय अर्थात् भूतार्थनयके विषयके आश्रयसे ही होता है। मोक्षमार्गका निरूपण दो प्रकारसे होता है किन्तु मोक्षमार्ग दो नही हैं। सरागतासे भी मोक्षमार्ग और वीतरागतासे भी मोक्षमार्ग—इस प्रकार परस्पर विरुद्धता तथा संशयरूप मोक्षमार्ग नहीं है।]

ग्रन्थ पूर्ण करते हुए आचार्य महाराज अपनी लघुता बताते हैं:—

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥२२६॥

अन्वयार्थः—[चित्रैः] अनेक प्रकारके [वर्णैः] अक्षरोंसे [कृतानि] रचे गए [पदानि] पद, [पदैः] पदोंसे [कृतानि] बनाये गए [वाक्यानि] वाक्य हैं, [तु] और [वाक्यैः] उन वाक्योंसे [पुनः] फिर [इदं] यह [पवित्रं] पवित्र-पूज्य [शास्त्रं] शास्त्र [कृतं] बनाया गया है, [अस्माभिः] हमारे द्वारा [न 'किमपि कृतम्'] कुछ भी नही किया गया है।

टीकाः—'चित्रैः वर्णैः पदानि कृतानि तु पदैः वाक्यानि कृतानि वाक्यैः पवित्रं शास्त्रं कृतं पुनः अस्माभिः न।'—अर्थः—इस ग्रन्थके कर्त्ता श्री अमृतचन्द्राचार्य महाराज ग्रन्थ पूर्ण करते हुए अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए कहते है कि यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय नामक शास्त्र हमने नही बनाया है तो फिर किसने बनाया है ? तब आचार्यने उत्तर दिया कि नाना प्रकारके अक्षरोंसे छन्दोके चरण बने है और उन चरणोसे छन्द अर्थात् वाक्य बने है तथा उन वाक्योसे शास्त्रकी रचना हुई है इसलिये इसमें मेरा कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है।

(दोहा)

अमृतचन्द्र मुनीन्द्रकृत ग्रन्थ श्रावकाचार,
अध्यातमरूपी महा आर्या छन्द जु सार।
पुरुषारथकी सिद्धिको जामें परम उपाय,
जाहि सुनत भवभ्रम मिटै आतमतत्त्व लखाय ॥

भाषा टीका ता उपरि कीनी टोडरमल्ल,
मुनिवर वृत्त बाकी रही ताके माँहिं अचल्ल ।
यह तो परभवको गए जयपुर नगर मँझार,
सब साधर्मी तब कियो मनमें यही विचार ॥
ग्रन्थ महा उपदेशमय परम धामको मूल,
टीका पूरण होय तो मिटै जीवकी भूल ।
साधर्मिनमें मुख्य हैं रतनचन्द दीवान,
पृथ्वीसिंह नरेशको श्रद्धावान सुजान ॥
तिनके अतिरुचि धर्मसों साधर्मिनसों प्रीति,
देव–शास्त्र–गुरुकी सदा उरमें महा प्रतीति ।
आनन्दसुत तिनको सखा नाम जु दौलतराम,
भृत्य भूपको कुल वणिक जाको वसवे धाम ॥
कुछ इक गुरु परतापसें कीनों ग्रन्थ अभ्यास,
लगन लगी जिनधर्मसों जिन दासनको दास ।
तासों रतन दीवानने कही प्रीति धरि येह,
करिये टीका पूरणा उर धरि धर्म सनेह ॥
तब टीका पूरण करी भाषारूप निधान,
कुशल होय चहुँ संघको लहै जीव निज ज्ञान ।
सुखी होय राजा प्रजा होय धर्मकी वृद्धि,
मिटैं दोष दुख जगतके पावैं भविजन सिद्धि ॥
अठारहसें ऊपरे सम्वत् सत्ताईस,
मास मार्गशिर ऋतु शिशिर सुदि दोयज रजनीश ।

इति श्री अमृतचन्द्रसूरिकृत पुरुषार्थसिद्धि–उपाय अपरनाम
जिनप्रवचनरहस्य–कोष ग्रन्थ सम्पूर्ण ।

परिशिष्ट १

पुरुषार्थसिद्धि-उपायके श्लोकोंकी वर्णानुक्रमणिका

जैनं जयतु शासनम्